प्रकाशक
राजस्थानी शोध-संस्थान
चोपासनी, जोधपुर
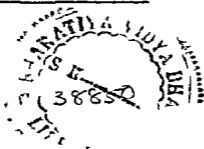
मूल्य चार रुपये

मार्च, १९६०

मुद्रक
हरिप्रसाद पारीक
साधना प्रेस, जोधपुर

कुबेरजी को

बचपन के उन दिनों जब पढ़ना सीख रहा था
तो जीवन की सबसे बड़ी लालसा यह थी कि
काश ! मैं आप जैसी कविताएँ बना सकता !
और आज जब लिखने की थोड़ी बहुत योग्यता
हासिल करली है तो सोचता हूँ
काश ! मैं आप जैसा इन्सान बन पाता !

विज्जी

पृष्ठ	सूची
७	भूमिका : मौलिकता का प्रश्न
१७	शब्द और यथार्थ
२३	विषय-वस्तु और भाषा
२७	शिल्प की भाषा
३३	सौंदर्यबोध की समस्या
	राजस्थानी लोकगीतों में प्रकृति
३६	वायु बरसात और बादल
५१	सूरज चांद और तारे
५६	खेत ब्रच्छ और हरियाली
६६	पशु और पक्षी
७५	श्रम का संगीत
८१	अंध-विश्वासों के गीत
८७	ऊजली की विरह वेदना का मर्म
१०३	कविता की कहानी
१३५	आयो इंगरेज मुलक रै ऊपर
१८३	परिशिष्ट

भूमिका : मौलिकता का प्रश्न

यह पुस्तक, जोधपुर मे प्रकाशित 'परम्परा' और 'रूपम' पत्रिकाओ की खातिर लिखे गये निबन्धो का सकलन है। यदि ये पत्रिकाएँ नही होती तो ये निबन्ध भी नही होते। समय-समय पर लिखे हुए ये निबध पहली बार अपने ही हाथ की लिखावट के रूप मे मेरे सामने आये, फिर पत्रिकाओ मे छप कर सामने आये और आज फिर पुस्तक रूप मे मेरे सामने हैं। वक्त गुजरने के साथ-साथ अध्ययन के दौरान मे इन निबन्धो के प्रति मेरा रिश्ता भी बदला है। तब ये जितने मेरे अपने थे, आज ये उतने मेरे अपने नही है। अपनी ही लिखी बातो के प्रति आज मेरे मन मे कही कुछ-कुछ मतभेद पैदा हो गया है। बडी खुशी के साथ आज यह महसूस करता हूँ कि तबके ये विचार न सम्पूर्ण रूप से मेरे अपने थे और न आज का यह मतभेद भी पूर्णतया मेरा अपना है। इन निबन्धो मे अभिनिहित विचारो के प्रति अधिकार के काफी बडे हिस्से को गँवा कर एक छोटी सी बात हासिल की है—वह यह कि इस सग्रह के निबन्धो मे अभिनिहित विचार मेरे नही हैं—बल्कि मै इन विचारो का हूँ जिनकी, मेरी जानकारी व मेरे अस्तित्व के बिना भी, विभिन्न लेखकों द्वारा लिखी हुई पोथियों मे अपनी स्वतत्र सत्ता है। हाँ, इस तथ्य तक पहुँचने का साक्षात्कार मेरा अपना अवश्य है।

पुस्तक पर एक लेखक के रूप मे अपने नाम का 'प्रयोग' देख कर, विचारो की मौलिकता के प्रश्न को सुलझाने की चेष्टा करना कुछ आवश्यक सा प्रतीत हो गया। इन निबन्धो मे प्रासगिक स्थलो पर शब्द, भाषा, कविता, सौंदर्यबोध, ज्ञान, अधविश्वास, धर्म, प्रेम, कला, विज्ञान और पुराणकथाओ आदि के उद्गम, विकास और उनकी ऐतिहासिक विवेचना पर काफी कुछ

मगजमारी करने के बाद, अधिकारपूर्ण स्वर में कुछ निश्चित मान्यताएँ प्रकट करने के बाद जब यह सोचता हूँ कि इन विचारों और इन तथ्यों तक पहुँचने का मेरे अपने मानस में क्या ऐतिहासिक क्रम रहा, मेरे अपने मस्तिष्क में इन विचारों का विकास कैसे हुआ—हलफिया बयान करूँ तो कहना पड़ेगा कि इस विकास-क्रम के ब्यौरे का सम्पूर्ण व सही हिसाब अंतिम रूप में नहीं बतला सकता। अस्पष्ट, बिखरे-बिखरे व असबद्धित रूप में कहीं-कहीं धुंधला सा आभास दिखलाई पड़ता है। जहाँ स्वयं अपनी बातों के लिये मुझे सबसे अधिक पुख्ता व सही जानकारी थी, जहाँ अपनी बातों के लिये मैं कुछ अधिकारपूर्ण स्वर में कहने का एकमात्र अधिकारी था, यदि वहीं अस्पष्टता और असबद्धता नजर आती है तो फिर अपने अनुभव, अपने काल व अपने स्थान से परे शब्द, भाषा, कविता, लोकगीत धर्म और प्रेम के आदि-रूप और उनके विकास की चर्चा, उनकी ऐतिहासिक विवेचना एक विडम्बना सी प्रतीत होती है। व्यक्ति के मानस में चेतना के निर्माण, विचारों की परिपक्वता, मौलिकता व भावना के उदय तथा विकास का पता पाना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक बहुत ही महत्वपूर्ण खोज व मनन का विषय है।

जब मैं स्वयं अबोध बच्चा था तब अपने अनुभव, अपने भाव, अपनी चेतना को समझ सकने की योग्यता का मुझमें सर्वथा अभाव था। और आज जब बड़ा हो गया हूँ, समझने-बूझने की यत्किंचित् योग्यता विद्या, अध्ययन व उम्र के साथ हाथ लगी है तो आज की इस अवस्था के लिये ठेठ बचपन का अनुभव एक ऐसी कहानी बन गया है जिसके प्रारंभिक पहलुओं को न सिलसिलेवार याद किया जा सकता है और न उस अनुभव की पुनरावृत्ति ही अब सम्भव है। दूसरे बच्चों को देख कर उनकी क्रियाओं में अपने अनुभव की समान अभिव्यक्तियों को अपने बुद्धि-कौशल से समझने की चेष्टा भर की जा सकती है।

जन्म के साथ ही ज्ञानेन्द्रियों की ग्राह्य-शक्ति के रूप में प्रत्येक बच्चे के मानसिक चैतन्य की आधार भूमि तैयार होती है। वाणी की अभिव्यंजना केवल रोने तक ही सीमित रहती है। भय और प्रसन्नता की अचेतन व्यंजना आँखों व चेहरे के परिवर्तित भावों में लक्षित होती है। अपने शारीरिक अभाव—क्षुधा व तृष्णा और शारीरिक पीड़ा को व्यक्त करने का अचेतन साधन है—रोना। प्रसन्नता को व्यक्त करने का साधन है—मुस्कराना। मानसिक विकास, चेतना व ज्ञान को अनजाने ग्रहण करने के लिये प्रमुख इंद्रियाँ हैं—

आंख और कान। दृष्टि द्वारा निरतर अभ्यास के कारण अपने स्वजनों की मुखाकृतियो की अनजानी पहिचान, प्रति दिन सम्पर्क मे रहने वाले व्यक्तियो के छोटे-मोटे कार्यों का प्रारभिक अनुकरण, कान की श्रवण-शक्ति के जरिये माँ व अन्य सम्बन्धियो की आवाज का सुनना तथा उनमे अभ्यास की वजह से समता और विभेद का अनजाना बोध—वाणी और भाषा के पूर्व यही तो है बच्चे की वैयक्तिक चेतना, यही तो है उसका वैयक्तिक ज्ञान। अपनी वैयक्तिकता के भीतर मूल प्रवृत्तियो के मौलिक प्रकाश का विशुद्ध अस्तित्व केवल इतना ही है।

अपने पारिवारिक दायरे मे उच्चारित वाणी को सुनते रहने का क्रम, सबधित यथार्थ की अभिज्ञता का बोध-सकेत ग्रहण करने की चेतना प्रदान करता है। शब्द और यथार्थ के सम्बन्ध को कान स सुनन, आंख से देखने, मुँह तथा अगुलियो द्वारा स्पर्श करने से अनुभवजनित ज्ञान का अचेतन सचय होता रहता है। तब इसके साथ ही जन्मजात मूल प्रवृत्तियो की मौलिकता का विशुद्ध रूप समाप्त हो जाता है। मूल प्रवृत्तियों की स्वभावगत चेतना व मौलिक प्रक्रियाओ के बाद पारिवारिक दायरे मे व्यक्ति का सामाजिक जीवन आरम्भ होता है। परम्परागत व सामाजिक ज्ञान के साँचे मे व्यक्ति की मूल प्रवृत्तियाँ दीक्षित होती रहती है। भाषा की तरह भाषा मे अभिनिहित विचार और भावना का भी सामाजिक व परम्परागत रूप है। भाषा तो केवल विचारो की अभिव्यक्ति का साधन मात्र है। भाषा के हर शब्द मे एक विचार निहित है। भाषा और विचार का परस्पर अविभाज्य सम्बन्ध है। इसलिये वाणी द्वारा अभिव्यजित विचारो की पूर्ण वैयक्तिकता व पूर्ण मौलिकता का प्रश्न नितांत भ्रान्ति है।

वाणी द्वारा उच्चारित शब्दा के माध्यम स यथार्थ को समझने की अभिज्ञता जहाँ से प्रारम्भ होती है, वही स ज्ञान का सामाजिक रूप भी प्रारभ हो जाता है। शब्द और यथाथ के सम्बन्ध को सुन कर समझने के बाद स्वय अपनी तुतलाती वाणी के जरिय सामाजिक ज्ञान की अभिव्यजना शुरू होती है।

आरम्भ म कान द्वारा सुनने के निरतर अभ्यास का परिमाण [क्वाटिटी] वस्तु और शब्द के सम्बन्ध को समझने की अभिज्ञता के गुण [क्वालिटी] मे परिवर्तित होता रहता है। तत्पश्चात् शब्द और वस्तु की अभिज्ञता का निरतर अभ्यास अपने परिमाण को एक सीमा तक पहुँचने के बाद तुतलाती वाणी की अभिव्यक्ति के गुण मे परिवर्तित हो जाता है।

कानों से बात को सुनने तथा मस्तिष्क द्वारा उसे निर्विलम्ब समझने और वाणी के माध्यम से बात को प्रकट करने की अभिज्ञता के बाद, [शिक्षा के मर्यादित दायरे में] लिपि की वर्णमाला के सहारे लिखित शब्द को आँख द्वारा उसी रूप में उच्चारित करने की शिक्षा आरम्भ होती है। लिपि के ये साक्षर प्रयोग आँख द्वारा सुनने के लिखित संकेत-चिन्ह हैं। कान के जरिये जो कुछ भी सुना जाता है, आँख द्वारा लिपि के माध्यम से जो कुछ भी पढ़ा जाता है उसका परम्परागत व सामाजिक रूप है। व्यक्ति की चेतना से सर्वथा भिन्न और स्वतन्त्र अस्तित्व है इसका। व्यक्ति के ज्ञान व उसकी चेतना का विकास इन सामाजिक विचारों के माध्यम से ही सम्पन्न होता है।

जिस प्रकार व्यक्ति के लिये सामाजिक परम्पराओं का अपना भिन्न और स्वतन्त्र अस्तित्व है उसी प्रकार सामाजिक परम्पराओं के लिये व्यक्ति का भी अपना स्वतन्त्र और भिन्न अस्तित्व है। सही है कि भाषा के माध्यम से व्यक्ति को परम्परागत ज्ञान की उपलब्धि होती है और यह भी सही है कि उस उपलब्धि में निहित विचारों का सामाजिक रूप होता है। किन्तु विचारों का सामाजिक रूप और व्यक्ति की उपलब्धि कभी चरम, शाश्वत और एकसी नहीं होती, क्योंकि न सामाजिक परम्परा व्यक्ति को निष्क्रिय रूप से प्रभावित करती है और न व्यक्ति की उपलब्धि ही सामाजिक परम्पराओं के प्रति निष्क्रिय होती है। सामाजिक ज्ञान की उपलब्धि के कारण ही व्यक्ति में आत्म चेतना का निर्माण होता है, किन्तु अपनी निर्मिति के पश्चात् व्यक्ति की आत्म चेतना सामाजिक ज्ञान को पुन प्रभावित करती है उसमें परिवर्तन लाती है, उसका स्वरूप बदलती है। निसंदेह शब्द का अपना भिन्न व स्वतन्त्र अस्तित्व है उसका अपना सामाजिक व परम्परागत इतिहास है, किन्तु जब व्यक्ति की भावात्मक अभिव्यजना में उसका प्रयोग होता है तब उसकी आत्मा का पुट उसमें घुल जाता है—तब वह अभिव्यक्ति आत्मपरक भी बन जाती है। सामाजिक ज्ञान और व्यक्ति के आत्म-चैतन्य की यह पारस्परिक सक्रियता सामाजिक परि-

जगमगाती है। दोनो ही एक दूसरे के सम्मिश्रण से अधिक प्रकाशवान बनते हैं।

जो व्यक्ति अनुभव और अध्ययन के जरिये सामाजिक ज्ञान को अधिक से अधिक संचित करने की चेष्टा करेगा, वही मौलिकता को अधिक से अधिक व्यंजित करने का सामर्थ्य प्राप्त कर सकेगा। जो सुनेगा नहीं वह बोलेगा क्या? जो जानेगा नही वह बतलायेगा क्या? जो पढ़ेगा नही वह लिखेगा क्या? जिस प्रकार बोलना, सुनने का ही एक दूसरा रूप है, उसी प्रकार लिखना भी पढने तथा सुनने का ही दूसरा रूप है। किन्तु दोनो का स्वरूप समान और एकसा नही होता। उनमे भिन्नता होती है। दृष्टान्त का सहारा लेकर बात को स्पष्ट करना चाहे [ये दृष्टात केवल उदाहरण मात्र है कोई प्रमाण नही] तो कहना पडेगा कि—खाने से खून बनता है, चारे और बाँटे से गाय के स्तनो में दूध बनता है, किन्तु जिस प्रकार खून और खाना एक नही है, चारा और दूध एक नही है—उसी प्रकार सुनना और बोलना भी एक नही है, पढना और लिखना भी एक नही है। किन्तु यह बात असंदिग्ध रूप से सही है कि खाना नही तो खून भी नही, चारा नही तो दूध भी नही—उसी प्रकार सुनना नही तो बोलना भी नही, पढ़ना [ज्ञान का श्रवण और अध्ययन] नही तो लिखना भी नही, सामाजिक ज्ञान की उपलब्धि नही तो वैयक्तिक मौलिक ज्ञान का प्रकाश भी नही।

तो कान द्वारा—माँ, पानी, दूध, रोटी, चाँद, भाई, बहिन आदि शब्दो को सुन कर सम्बन्धित यथार्थ की अभिज्ञता, वाणी द्वारा सुने हुए शब्दो का उच्चारण, तत्पश्चात् लिपि की वर्णमाला से निर्मित शब्दो की पहिचान, तथा अ माने अमरूद, क माने कबूतर और ख माने खरगोश की सूझ न पूर्णतया मेरी अपनी थी और न इन निबन्धो मे अभिनिहित—शब्द, भाषा, कविता, धर्म और प्रेम आदि की व्याख्या व विवेचन पूर्णतया मेरे अपने हैं। शब्द, भाषा, धर्म और प्रेम के विवेचन तथा अध्ययन की आवश्यकता, अमरूद, कबूतर और खरगोश की आवश्यकता से अपेक्षाकृत बहुत ही कम है। इनकी आम शिक्षा तथा इनकी उपलब्धि का दायरा सीमित है। इन्हे जानने व समझने की अनिवार्यता मर्यादित है।

अ माने अमरूद आदि की जानकारी तथा उनकी वैयक्तिक उपलब्धि मेरी अपनी थी, उन्हे याद करके दोहराने की लियाकत मेरी अपनी थी, उसी प्रकार इन निबन्धो मे अभिनिहित विचारो को प्राप्त करने की लालसा व मेहनत मेरी

कानों से बात को सुनने तथा मस्तिष्क द्वारा उसे निर्विलम्ब समझने और वाणी के माध्यम से बात को प्रकट करने की अभिज्ञता के बाद, [शिक्षा के मर्यादित दायरे में] लिपि की वर्णमाला के सहारे निश्चित शब्द को आँख द्वारा उसी रूप में उच्चारित करने की शिक्षा आरम्भ होती है। लिपि के ये साक्षर प्रयोग आँख द्वारा सुनने के निश्चित संकेत-चिन्ह हैं। कान के जरिये जो कुछ भी सुना जाता है, आँख द्वारा लिपि के माध्यम से जो कुछ भी पढ़ा जाता है उसका परम्परागत व सामाजिक रूप है। व्यक्ति की चेतना से सर्वथा भिन्न और स्वतन्त्र अस्तित्व है इसका। व्यक्ति के ज्ञान व उसकी चेतना का विकास इन सामाजिक विचारों के माध्यम से ही सम्पन्न होता है।

जिस प्रकार व्यक्ति के लिये सामाजिक परम्पराओं का अपना भिन्न और स्वतन्त्र अस्तित्व है उसी प्रकार सामाजिक परम्पराओं के लिये व्यक्ति का भी अपना स्वतन्त्र और भिन्न अस्तित्व है। सही है कि भाषा के माध्यम से व्यक्ति को परम्परागत ज्ञान की उपलब्धि होती है और यह भी सही है कि उस उपलब्धि में निहित विचारों का सामाजिक रूप होता है। किन्तु विचारों का सामाजिक रूप और व्यक्ति की उपलब्धि कभी चरम, शाश्वत और एकसी नहीं होती, क्योंकि न सामाजिक परम्परा व्यक्ति को निष्क्रिय रूप से प्रभावित करती है और न व्यक्ति की उपलब्धि ही सामाजिक परम्पराओं के प्रति निष्क्रिय होती है। सामाजिक ज्ञान की उपलब्धि के कारण ही व्यक्ति में आत्म-चेतना का निर्माण होता है, किन्तु अपनी निर्मिति के पश्चात् व्यक्ति की आत्म-चेतना सामाजिक ज्ञान को पुन प्रभावित करती है उसमें परिवर्तन लाती है, उसका स्वरूप बदलती है। निसंदेह शब्द का अपना भिन्न व स्वतन्त्र अस्तित्व है, उसका अपना सामाजिक व परम्परागत इतिहास है, किन्तु जब व्यक्ति की भावात्मक अभिव्यंजना में उसका प्रयोग होता है तब उसकी आत्मा का पुट उसमें घुल जाता है—तब वह अभिव्यक्ति आत्मपरक भी बन जाती है। सामाजिक ज्ञान और व्यक्ति के आत्म चैतन्य की यह पारस्परिक सक्रियता सामाजिक परिवर्तनों की आधार भूमि है। एक ओर जहाँ सामाजिक ज्ञान की उपलब्धि अपनी प्रारम्भिक स्थिति में वैयक्तिक मौलिकता को अपने में निःशेष कर डालती है, वहाँ व्यक्ति की चेतना में घुली हुई यह सामाजिक उपलब्धि परिमाण की एक सीमा तक पहुँचने के बाद व्यक्ति की मौलिकता को पुन सप्रेरित करती है। उसे

जगमगाती है। दोनो ही एक दूसरे के सम्मिश्रण से अधिक प्रभावशाली बनते हैं।

जो व्यक्ति अनुभव और अध्ययन के जरिये सामाजिक ज्ञान को अधिक से अधिक संचित करने की चेष्टा करेगा, वही मौलिकता को अधिक से अधिक व्यंजित करने का सामर्थ्य प्राप्त कर सकेगा। जो सुनेगा नही वह बोलेगा क्या? जो जानेगा नही वह बतलायेगा क्या? जो पढेगा नही वह लिखेगा क्या? जिस प्रकार बोलना, सुनने का ही एक दूसरा रूप है, उसी प्रकार लिखना भी पढने तथा सुनने का ही दूसरा रूप है। किन्तु दोनों का स्वरूप समान और एकसा नही होता। उनमे भिन्नता होती है। दृष्टान्त का सहारा लेकर बात को स्पष्ट करना चाहूं [ये दृष्टांत केवल उदाहरण मात्र हैं कोई प्रमाण नही] तो कहना पडेगा कि—खाने से खून बनता है, चारे और बांटे मे गाय के स्तनों मे दूध बनता है, किन्तु जिस प्रकार खून और खाना एक नही है, चारा और दूध एक नही है—उसी प्रकार सुनना और बोलना भी एक नही है, पढना और लिखना भी एक नही है। किन्तु यह बात असंदिग्ध रूप से सही है कि खाना नही तो खून भी नही, चारा नही तो दूध भी नही—उसी प्रकार सुनना नही तो बोलना भी नही, पढना [ज्ञान का श्रवण और अध्ययन] नही तो लिखना भी नही, सामाजिक ज्ञान की उपलब्धि नहीं तो वैयक्तिक मौलिक ज्ञान या प्रकाश भी नही!

तो कान द्वारा—मां, पानी, दूध, रोटी, चांद, भाई, बहिन आदि शब्दो को सुन कर सम्बन्धित यथार्थ की अभिज्ञता, वाणी द्वारा सुने हुए शब्दों का उच्चारण, तत्पश्चात् लिपि की वर्णमाला से निर्मित शब्दों की पहिचान, तथा अ माने अमरूद, क माने कबूतर और ख माने खरगोश की सूझ न पूर्णतया मेरी अपनी थी और न इन निबन्धो मे अभिनिहित—शब्द भाषा, कविता, धर्म और प्रेम आदि की व्याख्या व विवेचन पूर्णतया मेरे अपने हैं। शब्द, भाषा, धर्म और प्रेम के विवेचन तथा अध्ययन की आवश्यकता, अमरूद, कबूतर और खरगोश की आवश्यकता से अपेक्षाकृत बहुत ही कम है। इनकी आम शिक्षा तथा इनकी उपलब्धि का दायरा सीमित है। इन्हे जानने व समझने की अनिवार्यता मर्यादित है।

अ माने अमरूद आदि की जानकारी तथा उनकी वैयक्तिक उपलब्धि मेरी अपनी थी, उन्हे याद करके दोहराने की लियाकत मेरी अपनी थी, उसी प्रकार इन निबन्धो मे अभिनिहित विचारो को प्राप्त करने की लालसा व मेहनत मेरी

अपनी है, उसको समझने की क्षमता मेरी अपनी है, सामाजिक ज्ञान को अधिक से अधिक ग्रहण करने की आवश्यकता मेरी अपनी है, अपनी शैली में उन्हें व्यक्त करने का तरीका मेरा अपना है, मेरी चेतना में सम्मिश्रित उपलब्धियों का परिवर्तित रूप मेरा अपना है, विभिन्न लेखकों व मनीषियों के विचारों से सपर्क हासिल करने की चिन्ता तड़पन मेरी अपनी है और ज्ञान का परम व सर्वोपरि महत्व की वस्तु समझने तथा उसे आत्मसात करने की कशिश मेरी अपनी है।

भाषा में अभिनिहित सामाजिक विचारों का तो न कोई आरम्भ है और न इनका कोई अन्त ही। किन्तु एक व्यक्ति के लिये अपनी जिन्दगी की शुरुआत में इन सामाजिक विचारों को प्राप्त करने का आरम्भ तो अवश्य है पर इसका कहीं अन्त नहीं है, इसलिये सामाजिक ज्ञान के रूप में व्यक्ति की उपलब्धि कभी अन्तिम नहीं होती। उपलब्धि की बढ़ोतरी के साथ विचार व ज्ञान में परिवर्तन होता रहता है। प्रत्येक उपलब्धि सही है, प्रत्येक परिवर्तन सही है। हर मत सही है, हर मतभेद भी सही है। सामाजिक ज्ञान के क्षेत्र में व्यक्ति की उपलब्धि न कभी गलत होती है और न कभी अन्तिम होती है। गलत कुछ भी नहीं है, अन्तिम कुछ भी नहीं है। हर व्यक्ति की अपनी समझ, अपने ज्ञान, अपनी अभिज्ञता के अनुरूप उसका सत्य होता है। किन्तु इन वैयक्तिक सत्यों की आधारभूमि सामाजिक होती है—इसी कारण सामाजिक समानता का वृहत रूप सम्भव बन पाता है।

मनुष्य की चेतना और उसकी अभिज्ञता के परे सत्य का अपना वस्तुनिष्ठ और स्वतंत्र रूप है। किन्तु स्वयं मनुष्य के लिये सामाजिक अभिज्ञता के अलावा सत्य का कोई भी दूसरा रूप नहीं होता। सामाजिक अभिज्ञता का सत्य और वस्तुनिष्ठ सत्य कभी भी दोनों एक नहीं होंगे। सत्य स्वयं प्रकट नहीं होता, वह मनुष्य की अभिज्ञता के साथ साथ अपना रूप बदलता रहता है। जो समाज ने जाना है—वह समाज का सत्य है। जो व्यक्ति ने जाना है—वह व्यक्ति का सत्य है।

एकम् सद्विप्रा बहुधा वदन्ति

सत्य को ग्रहण करने की वैयक्तिक उपलब्धियाँ अनेक हैं, उन्हें समझने की क्षमताएँ अनेक हैं, उसकी अनुभूतियाँ अनेक हैं, उसकी अभिव्यक्ति के रूप अनेक हैं।

प्रत्येक व्यक्ति की अनुभूति व ग्राह्य-शक्ति भिन्न अवश्य होती है, किन्तु उनके अनुरूप व्यक्तियो के सामाजिक सत्य उतने भिन्न नही हुआ करते। जितनी बाते भिन्न हैं, उतने तथ्य भिन्न नही हैं। जितने रूप भिन्न हैं, उतने तत्व भिन्न नही है। जितनी आकृतियाँ भिन्न हैं, उतने पदार्थ भिन्न नही है। जितनी रुचियाँ भिन्न है, उतने मर्म भिन्न नही है। तर्जेअदाएँ जितनी भिन्न है, उतनी भावनाएँ भिन्न नही हैं।

ज्ञान की तरह ज्ञान की अभिव्यक्ति के माध्यम कला, शैली और उसके रूप-तत्व का भी अपना सामाजिक स्वरूप है, उनका परम्परागत इतिहास है, फिर भी वैयक्तिक मौलिकता जितनी शैली, रूप, अभिव्यक्ति तथा तर्जेअदा म होती है उतनी विषयवस्तु मे नही। कहने के तरीके अनेक हैं, कहने के लिये सारवस्तु सीमित है।

व्यक्ति के जीवन मे सामाजिक उपलब्धि के दो पहलू है। एक—व्यक्ति द्वारा सामाजिक उपलब्धियो को अपने विकास के लिये साधन रूप मे बरतना। दूसरा—स्वय अपने को ही इन सामाजिक उपलब्धियो के निमित्त समझना। एक विकास का जीवन्त पहलू है। दूसरा जडता का निष्क्रिय पहलू है। विकास का जीवन्त पहलू अपने अनुभव की मौलिकता से सामाजिक उपलब्धियो को समृद्ध बनाता है, उनका रूप बदलता है। जडता का निष्क्रिय पहलू सामाजिक परम्पराओ को पगु बनाता है, उन्हे उसी रूप मे कायम रखने की हठीली चेष्टा करता है। जो अबोध शिशु अपनी तुतलाती वाणी मे अपने भावो की यत्-किंचित् अचेतन व्यजना सहज ही कर लेता था, वही बडा होने पर अपने ही प्रयत्न से सामाजिक परम्परा मे स्वय को नि शेष कर सकता है। परम्परा के फन्दे को अपने गले मे लटका कर कठपुतली की तरह रूढियो के धागो मे स्वय को लटका रख सकता है।

मनुष्य जितने बातचीत मे मौलिक होते है उतने लिखने मे नही। एक बच्चा जो अपनी छोटी उम्र मे टूटे-फूटे शब्दो के तुतलाते उच्चारण तथा शरीर की भाव-भगिमाओ द्वारा मौलिक उद्‌गारो को अनजाने ही प्रकट कर लेता था वही बडा होने पर कलम के जरिये वाक्यो के प्रयोग मे अपनी मौलिकता को आरम्भ मे खो बैठता है। बातचीत करना अथवा बोलना एक सामाजिक आवश्यकता है जो व्यक्ति को सामाजिक वरदान के रूप मे अपनेआप ही

प्राप्त हो जाती है। किन्तु शिक्षा एक वैयक्तिक प्रयास है, एक वैयक्तिक आवश्यकता है।

एक कवि, कहानी लेखक, चित्रकार, नृत्यकार और एक संगीतज्ञ आदि कलाकारों के लिये सम्बन्धित कलाओं की अभिज्ञता, परम्परागत शैलियों का अनुकरण, उनका निरन्तर अभ्यास वैयक्तिक मौलिकता की बुनियादी शर्त है। अभ्यास की प्रारम्भिक अवस्था में मौलिकता का अपना कोई अस्तित्व नहीं होता, किन्तु अध्ययन और अभ्यास के दौरान में एक स्थिति स्वयमेव ऐसी बन जाती है कि जिसमें मौलिकता के गुण का उद्भव होने लगता है। लेकिन कलाकार को चाहिये कि वह परम्परागत विरासत को साध्य रूप में नहीं बल्कि साधन रूप में बरते। परम्पराओं को अपनी वैयक्तिक अनुभूति से समृद्ध करने की चेष्टा करे। व्यक्ति की चेतना में प्रवेश करने पर वांछित समय के बाद सामाजिक उपलब्धियों का स्वरूप अवश्य बदलना चाहिये। क्योंकि व्यक्ति का जो अपना अनुभव है—वह उसीका अनुभव है, किसी भी दूसरे व्यक्ति का नहीं। परम्परा में उसका अनुभव जुड़ना चाहिए। मनुष्य तोता नहीं है। वह चाहे तो तोता बन सकता है। तोते से भी बदतर हो सकता है।

अ माने अमरूद से लेकर इन निबन्धों की रचना तक मैंने जो कुछ भी पढ़ा, सुना और समझा है, उस सबका निष्कर्ष या सार इन निबन्धों में है—यह कहना भी गलत कहना है। और यह कहना कि उसके अतिरिक्त भी कुछ नहीं है—यह भी गलत है। अतिरिक्त वाले हिस्से में थोड़ा बहुत 'मैं' भी हूँ—बहुत ही अकिंचन रूप में। फिर भी यह सब अब तक के अध्ययन व मनन की वजह से ही है कोई इसके बावजूद नहीं।

इन निबन्धों की रचना में जाने अनजाने न मालूम कितने लेखकों का प्रभाव, न मालूम कितने बुरे लेखकों के प्रति अरुचि का प्रभाव, उनकी बुराइयों से बचते रहने का प्रभाव, न जाने कितने मित्रों के प्रेम व उनके व्यक्तित्व का प्रभाव, उनके प्रेम से सम्प्रेरित निर्बन्ध उत्साह का प्रभाव—न जाने कितने प्रभावों के मेल से इन निबन्धों की सृष्टि हुई है—उसकी सम्पूर्ण व वैज्ञानिक जानकारी मुझे भी नहीं है। लेकिन ऐसा है जरूर इतना अवश्य जानता हूँ।

कुछेक लेखकों व मित्रों का प्रभाव तो मेरी जानकारी में है—बिलकुल स्पष्ट और तयशुदा। किन्तु उनके नामों की केवल चर्चा मात्र करके रह जाना

काफी नही है। युक्तिसंगत भी नही है। यह मेरे जानने व समझने की बात है, प्रकट करने की नही। लेकिन आलोचना के क्षेत्र मे जिस लेखक का प्रभाव मुझ पर सबसे अधिक पडा है, उसका जिक्र न करूँ तो कृतघ्नता होगी। और उसके बाद दूसरा नाम शुरु करने पर तो कई लेखक है, फिर कहाँ खतम करूँ समझ नही पडता। इसलिये केवल एक नाम लेकर ही सब्र करना चाहूँगा। वह लेखक है—क्रिस्टॉफर कॉडवेल! उसकी शैली, उसके विचार और उसका जीवन, इन तीनो ने मुझे समान रूप से प्रभावित किया है। अपनी बात के लिये वक्त पडने पर एक लेखक को अपनी जान तक देने मे हिचकिचाहट नही होनी चाहिये, यह बात जितनी आसानी के साथ मुझे कॉडवेल के जीवन से समझ मे आई उतनी और कही से नही आई। न जाने कितनी बार कितनी तन्मयता से मैने उसकी रचनाओ को पढा है और कितना उन पर लट्टू हुआ हूँ उसे केवल मैं ही जानता हूँ।

और उस तन्मयता का आज परिणाम यह हुआ कि साहित्य व कला के प्रति कॉडवेल के काफी कुछ विचारो से मै सहमत नही हूँ। किन्तु यह समझ बहुत कुछ उसीकी दी हुई है इससे इन्कार नही करूँगा। उसकी मौत ने मुझे रह रह कर जीवन दिया है। उसका यह सबक हमेशा याद रखूँगा कि मनुष्य न कुत्ते की तरह जिये, न कुत्ते की तरह मरे।

एक लेखक के नाते मेरी सबसे पहली और आखिरी तमन्ना यही है कि मेरा मगज मेरे पेट की खुराक न बने। शरीर का राजा मस्तिष्क मेरे पेट का गुलाम न बने। जरूरत पडने पर शरीर का गोश्त नोच नोच कर पेट की अतडियो के हवाले करदूँ पर किसी भी कीमत पर अपने अक्षरो व अपनी कलम को गिरवी न रखूँ। मेरी कमर झुक जाये पर मेरी कलम नही झुके। मेरे अक्षरो को धन की लालसा न हो, मेरे शब्दो को सत्ता का भय नही हो, मेरी रचना मे यश की बू नही हो—एक लेखक का सबसे बडा श्रेय यही है। बात बहुत बडी है—मेरा हौसला बहुत छोटा है। मेरी क्षमता बहुत नगण्य है। अपने सुने हुए और पढे हुए हर शब्द से यह आशीर्वाद चाहता हूँ कि वे मेरी यह टेक निभायें। बडा लेखक न बन सकूँ न सही। अच्छा नही लिख सकूँ न सही। ज्यादा नही लिख सकूँ न सही। पर लेखक की मर्यादा को न तोडूँ, शब्दो के गौरव को लाछित न करूँ, बस इतनी भर ख्वाहिश है। आज की तमन्ना तो यही है—कल का

कोई भरोसा नहीं। किन्तु जिस दिन भी मेरा यह भरोसा टूटे तो मेरे अक्षरो तुम उसी क्षण मेरा गला घोंट देना। यदि इसमें क्षीन हो गई तो मेरी बदनी हुई हैवानियत तुम्हारा ही गला घोंट डालेगी। तुम्हारे गौरव को बेचकर मैं अपना गुजारा नहीं करना चाहता। तुम्हारी हत्या करके मैं अपनी जिन्दगी बसर नहीं करना चाहता। मुझे लेखक नहीं बनना है, लेखक की मर्यादा का पालन करना है।

मेरे गाये गायेगा तो छत्ता धणेरा लायेगा।
मेरे लाजे खोजेगा तो तीन लोक को खोजेगा॥

कवि की इस अमर वाणी के साथ मैं अपनी भूमिका समाप्त करता हूँ। और कवि की इस एकमात्र सीख को गाँठ बांध कर साहित्यकार के जीवन का आरम्भ करता हूँ। अब तक तो उसकी तैयारी में लगा था।

११ मार्च, १९६०
बोरून्दा
वरास्ता पीपाड सिटी [जोधपुर]

विजयदान देथा

शब्द और यथार्थ

इस बात की जानकारी—कि शब्दो का अपना स्वतत्र इतिहास है, उनका अपना स्वतत्र अस्तित्व है और उनका परम्परागत स्वरूप है—विज्ञान के क्षेत्र मे एक बहुत ही महत्वपूर्ण खोज थी। आज दिन भी बहुत सारे लोग सोचते हैं कि शब्द स्वय यथार्थ है। जिस किसी रूप मे वस्तु का सबोधन प्रचलित है, उसके अलावा उसका कोई दूसरा सबोधन हो ही नही सकता और जो वस्तु है उसे किसी अन्य शब्द के द्वारा व्यक्त किया ही नही जा सकता। शब्द और वस्तु मे एक अलौकिक तादात्म्य निहित है। वे परस्पर किसी दैविक सम्बन्ध से आबद्ध हैं। भाषा के परम्परागत विकास-क्रम से शब्दो का कोई सम्बन्ध नही है—इस प्रकार की मिथ्या धारणाएँ आज दिन भी प्रचलित है।

किन्तु आज हम जिस वैज्ञानिक आधार पर इस धारणा को मिथ्या कह सकने की क्षमता रखते हैं, यही धारणा प्राचीन युग मे हमारे पूर्वजो का विज्ञान थी। वे प्रकृति और बाह्य जगत को अपनी चेतना का ही अश समझते थे। चेतना वाणी द्वारा प्रगट होती थी, इसलिए वे वाणी को ही चेतना मानते थे। वाणी को एक दैविक या पारलौकिक वस्तु समझते थे। उनका विश्वास था कि वाणी द्वारा प्रकृति को नियन्तित किया जा सकता है। शब्दो की अलौकिक शक्ति पर उन्हे पूरी आस्था थी। शब्द ही उनके लिए यथार्थ था और इस शाब्दिक यथार्थ को अपने अनुकूल बरतने के लिए वे उसकी पूजा-अर्चना करते थे। प्रकृति से सामना करने के लिए यह दैविक शब्द ही उनका औजार था। उनकी कला, उनका विज्ञान, उनका धर्म सभी कुछ शब्द ही मे निहित था। शब्द की शक्ति उनके लिए सबसे बडी शक्ति थी। वैदिक ऋचाओ

मे वर्णित इन्द्र, पर्जन्य, वरुण, वायु, मारुत, सूर्य, सन्ध्या, उषा, सोम, अग्नि आदि ये शब्द उनके लिए अर्थ-संकेत मात्र ही नही थे। ये उनके देवता थे। इन्ही देवताओं मे उनका प्राकृतिक यथार्थ सन्निहित था। उस यथार्थ को अपने हित मे वरतने के लिए, अपनी तात्कालिक आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए वे ऋचाओ द्वारा उनकी स्तुति करते थे। शब्दो की मत्र-शक्ति का तब यही तात्पर्य था।

मानवीय भाषा का उच्चारण और उसका प्रयोग कोई प्राकृतिक देन नहीं, बल्कि मनुष्य का अपना स्वनिर्मित सामाजिक गुण है। परन्तु भाषा का निर्माण उसकी सजग चेतना का परिणाम नही—उसकी अचेतन क्रिया का अगोचर प्रयास है। भाषा का वैयक्तिक नही, सामाजिक रूप है। यह किसी समय-विशेष की उपज नही, बल्कि युगो से चले आ रहे अविरत काल की सृष्टि है, जिसका सृष्टा एकाकी मनुष्य नही, समूची मानव जाति है। किन्तु जिसका निमित्त बन सकने का श्रेय केवल मनुष्य को ही है।

मनुष्य ने नियम-कायदा के अनुसार अपने सजग ज्ञान द्वारा भाषा की सृष्टि नही की, और न उसके निर्माण की उसे आत्म चेतना ही थी। मनुष्य की चेतना के परे ही प्रकृति, परम्परा, वातावरण, अभ्यास व अनुकरण आदि के पारस्परिक सयोग से भाषा का प्रारम्भ और उसका विकास होता रहा। किन्तु भाषा निश्चित रूप से मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओ का भौतिक परिणाम थी, कोई अलौकिक या दैविक वस्तु नही। इसके विकास या निर्माण का अपना इतिहास है। विकास की एक स्थिति विशेष पर पहुँचने के बाद ही मनुष्य ने भाषा के नियमो का निर्माण किया। व्याकरण ने भाषा को जन्म नही दिया, बलिक भाषा ने व्याकरण को जन्म दिया है। व्याकरण—भाषा के इतिहास मे बहुत बाद की विकास-स्थिति है। इसलिए भाषा व शब्द की भाँति व्याकरण का भी अपना इतिहास है, उसका अपना परम्परागत स्वरूप है, और अपने नियम-कायदो का स्वतन्त्र विज्ञान है।

मनुष्य के मानस मे भौतिक जगत की प्रभाव प्रक्रिया का नाम ही विचार है। या यो कहिए कि वस्तु-जगत का मानवीय विचारो मे अनुवाद होता है। विचारो का साधन है—शब्द। इस प्रभाव-प्रक्रिया के भी अपने नियम विधान हैं, अपने सिद्धान्त है जो स्वतन्त्र रूप से सचालित होते है।

भाषा, व्याकरण और शब्द का एक निश्चित परम्परागत स्वरूप होने पर

भी, शब्द द्वारा जिस अर्थ-संकेत का बोध होता है, उस अर्थ-संकेत का कोई निश्चित परम्परागत रूप नही है। शब्द स्वयं यथार्थ नही होता, इसीलिए तो ससार की विभिन्न भाषाओ मे एक ही यथार्थ का बोध कराने वाले विभिन्न शब्द है। समय के दौरान में एक ही भाषा के अधिकाश शब्द भी विभिन्न अर्थ-सकेत ग्रहण करते रहते है। आवश्यकताओं का तकाजा पुराने शब्दो को शनैः-शनैः नये अर्थ प्रदान कर देता है। यथार्थ के प्रति मनुष्य की जानकारी बदलती रहती है या दूसरे शब्दो में वह विकसित होती रहती है। तब उस यथार्थ-विशेष का बोध कराने वाले शब्द का अर्थ भी बदलता रहता है। किसी यथार्थ के मिट जाने पर यह आवश्यक नही है कि उससे सम्बन्धित शब्द भी मिट जाय। उस मृत यथार्थ का बोध कराने वाला शब्द किसी दूसरे यथार्थ का बोधक बन जाता है। हर नयी पीढ़ी अपने पुरखो से वसीयत के रूप मे 'शब्द-ज्ञान' का भडार प्राप्त करती है और अपने नये अनुभवों द्वारा आवश्यकता पडने पर उन परम्परागत शब्दो को नये अर्थों का नया बाना पहिनाती रहती है। इसका यह तात्पर्य कदापि नही कि पुराने शब्दो के केवल अर्थ ही बदलते रहते है और नये शब्दो का निर्माण कतई नही होता। सर्वथा नये यथार्थ और नये अनुभवो को व्यजित करने के लिए नये शब्दो की सृष्टि भी होती है, किन्तु उसमे पुराने शब्दो का धातु-रूप, शब्द-सयोग, उनके रूप-परिवर्तन का आधार उस नई शब्द-सृष्टि मे काफी दखल रखता है। दरअसल सच्चाई यही है कि सर्वथा नये शब्दों की सृष्टि नही हुआ करती। पुराने शब्दो के आंशिक परिवर्तन द्वारा नये तथ्यो की नई जानकारी होती है, यथार्थ की नई व्याख्या प्रस्तुत होती है, विभिन्न भाषाओं के शब्द-ज्ञान का आपसी आदान-प्रदान होता है, नई अनुभूतियों को नई व्यजना मिलती है, शब्दो का प्रयोग बदलता है, भाषा का परिमार्जन होता है, किन्तु शब्द-भडार मे वृद्धि नही होती।

प्राचीन ग्रन्थो को समझने के लिए यह आवश्यक है कि शब्द और यथार्थ के तात्कालिक सम्बन्ध को ऐतिहासिक दृष्टि से समझा जाय। क्योकि यथार्थ का बोध कराने वाले शब्दों का अर्थ-सकेत समय और परिस्थितियो के दौरान में काफी कुछ बदलता रहता है। इसलिए बदले हुए अर्थ-सकेत से हम तात्कालिक सम्बन्धो को ठीक से समझने मे असमर्थ रहेगे। शब्द की भाँति शब्द के अर्थ-सकेत को अपरिवर्तित समझने से प्राचीन ग्रन्थो की न्याय-सगत विवेचना

नहीं हो सकती, चाहे वह परिवर्तन सामित हो चाहे अधिक, उसको मद्देनजर रख कर ही हमें उनका ऐतिहासिक मूल्यांकन करना होगा।

शब्दों का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होने पर भी वाक्य या भाषा में प्रयोग किये जाने के बाद ही उनमें निश्चित बोध-ग्राह्यता की सक्रिय शक्ति का संचरण होता है। इसलिए भिन्न प्रसंग, भिन्न स्थिति तथा भिन्न समय में प्रयुक्त होने पर एक ही शब्द अपने विभिन्न प्रयोगों के कारण विभिन्न अर्थों का बोधक होता है। बोल-चाल की भाषा के प्रचलित शब्द अपने 'विज्ञान-विषय' में प्रयुक्त होने पर विशेष यथार्थ का बोध कराते हैं। प्रसंग, प्रयोग और स्थिति विशेष से विच्छिन्न शब्द की बोध-ग्राह्यता स्पष्ट नहीं होती। अभिव्यक्ति ही शब्द को अर्थ की सार्थकता प्रदान करती है।

पशुओं का भी वस्तु-जगत से निकट सम्पर्क रहता है और इस सम्पर्क की भी एक वंशानुगत स्वाभाविक प्रभाव-प्रक्रिया है। पशुओं का भी यथार्थ के साथ एक जीवन्त क्रियाशील सम्बन्ध होता है। वे भी विशेष परिस्थितियों में विशेष व्यवहार करते हैं और उस व्यवहार की प्रक्रिया भी काफी निश्चित होती है। परन्तु पशु का—यथार्थ, वस्तु और स्थिति के साथ सहज और सीधा सम्बन्ध रहता है। वह यथार्थ को अपनी ऐन्द्रिक प्रक्रिया से विच्छिन्न करके नहीं देख सकता। उसके अर्थ-सकेत यथार्थ के साथ ही सन्निहित रहते हैं। यथार्थ की मूर्त्त सत्ता से भिन्न उसकी बोध-ग्राह्यता का अपना अमूर्त्त, निरपेक्ष और स्वतन्त्र रूप नहीं है। यथार्थ ही उसके लिए शब्द शक्ति का काम करता है। परन्तु मनुष्य की वाणी वस्तु पदार्थ से विलग होकर स्वतन्त्र रूप से अमूर्त्त प्रतीकों का निर्देशन करती है। इन अमूर्त्त-प्रतीकों के आधार पर ही मनुष्य का मानसिक विकास सम्भव हुआ है। यथार्थ और प्रभाव-प्रक्रिया के अविभाज्य सम्बन्ध के कारण पशु सामान्य में भी विशेष का अनुभव करता है, सामान्य के प्रति उसका विशेष ही सम्बन्ध रहता है, किन्तु मनुष्य की—शब्दों के माध्यम से विशेष में भी सामान्य की अनुभूति मौजूद रहती है। शब्दों के सबल से मनुष्य के सीमित-विशेष ही में विश्व का असीम-सामान्य समाहित रहता है, और पशुओं में शब्द के अभाव की वजह से वस्तु-जगत का असीम-सामान्य उनके सीमित-विशेष में समाया रहता है। इसी कारण पशुओं के प्राकृतिक ऐन्द्रिय बोध में अधिक परिवर्तन और विकास नहीं हो पाता और मनुष्यों में ऐन्द्रिय-बोध की ग्राह्य-शक्ति उत्तरोत्तर समृद्ध व उन्नत होती रहती

है। शब्दों के मारफत मनुष्य के मानस में निर्मित होने वाली चेतना का महत्व उसके ऐन्द्रिय-ज्ञान से बहुत अधिक है। हालांकि उस चेतना का निर्माण ऐन्द्रिय-ज्ञान के माध्यम से ही होता है। किन्तु साथ में यह भी सही है कि इस चेतना के सबल से मनुष्य ने ऐन्द्रिय-ज्ञान की प्राकृतिक शक्ति को कई हजार गुना बढ़ा लिया है। इसलिए किसी मनुष्य के शब्दों की सीमा ही उसके यथार्थ व उसके ज्ञान की सीमा है—क्योंकि शब्द व भाषा के अनुपात में ही उसकी चेतना-शक्ति का विकास होता है।

अगस्त, १९५८

विषय-वस्तु और भाषा

भौतिक-जगत के विभिन्न स्वरूप—चाहे वनस्पति के रूप मे हो, चाहे पशु-पक्षी के रूप मे, चाहे किसी पदार्थ के रूप मे हो—आज जितने विभिन्न दिखलाई पडते हैं, अपने अस्तित्व की प्रारम्भिक अवस्था मे सभी का उद्‌गम-श्रोत एक ही था। एक ही अनेक का जन्मदाता है। विज्ञान की मान्यताओ ने इस सिद्धात को पूर्णतया प्रतिपादित कर दिया है कि निर्जीव ही से जीव की सृष्टि हुई है। वस्तु-जगत की असख्य विभिन्नताओ का बीज-रूप एक ही था। किन्तु बीज-रूप की अभिन्नता के सिद्धान्त पर हम आज की अनेकानेक विभिन्नताओं को अस्वीकार नही कर सकते। इन विभिन्नताओ की गतिमयता और विकास के अपने सिद्धान्त है, अपनी निजी क्रियाएँ है। आज इन विभिन्नताओ को जादू की डडी से न एक किया जा सकता है और न इन्हे एक ही समझा जा सकता है। यह विभिन्नता ही आज हमारी एकमात्र वास्तविकता है। इसीकी आधार-भूमि पर हमें अपनी प्रगति और अपना विकास करना है। उद्‌भव की एकता और विकासजन्य विभिन्नता—दोनो की सम्यक दृष्टि से सम्यक विवेचना करने पर ही विज्ञान-सम्मत निर्णयों पर पहुँचा जा सकता है।

वस्तु-जगत की तरह मानवीय जगत मे भी—क्या भाषा, क्या कला, क्या विज्ञान, क्या उत्पादन के साधन, क्या धर्म, क्या वेश-भूषा, क्या अस्त्र-शस्त्र—इन सभी क्षेत्रो मे आज जो अगणित विभिन्नताएँ दृष्टिगोचर हो रही हैं, वे भी विकास-क्रम ही के परिणाम हैं। मानवीय जगत का आदि-रूप भी एक ही था। ससार भर की भाषाओ के जो मौजूदा विभिन्न रूप प्रचलित हैं—उनका उद्‌गम भी एक था। लेकिन आज सभी भाषाओ का अपना

साहित्य है, अपनी भिन्न व्याकरण है, अपना विभिन्न शब्द-भंडार है, और उच्चारण के अपने भिन्न तरीके हैं। विभिन्न देशों की बात तो दूर, एक ही समुदाय विशेष की एक ही भाषा के अर्थ-संकेत, अभिव्यक्तियों के विभिन्न प्रयोगों की वजह से विभिन्न अर्थ-शक्ति का परिचय देते है। बोलचाल की भाषा, साहित्य की भाषा, कविता की भाषा, नाटक की भाषा, विज्ञान की भाषा, धर्म की भाषा—इन सभी उपागों का मूल शब्द-भंडार एक होने पर भी वे अपने प्रासगिक स्थलो से भिन्न व्यंजना-शक्ति का आभास देते हैं। एक ही शब्द का—प्रासंगिक उपयोग के कारण अनेक व्यंजना-शक्तियो मे तदनुरूप परिवर्तन हो जाता है।

व्यंजना-शक्ति के इन विविध रूपो का यथाधिन कारण मानवीय आवश्यकताओ का वैविध्य है। मानव जाति की प्रारम्भिक अवस्था मे अवैविध्य जीवन के कारण, उसके रहन-सहन व उसके कार्य-व्यापारों मे, व्यंजित विषय-वस्तु व अभिव्यक्ति के साधनो मे भी विविधता नही थी। सभी प्रकार की अभिव्यक्तियों का स्वरूप वाङ्मय था। कविता नाम की स्वतन्त्र कला के अस्तित्व की तब कल्पना भी सभव नही थी। लिपि की प्रारम्भिक अवस्था मे चित्र और शब्द मे कोई अन्तर नही था। चित्र ही शब्द का लिपिबद्ध रूप था। मानव जाति के विकास-क्रम मे एक स्थिति ऐसी भी थी जब उसके सामूहिक गान मे कविता, नृत्य, सगीत तीनो सम्मिश्रित थे। सगीत और वाणी का अभिन्न स्वरूप था। सगीत ही मनुष्य की वाणी थी। धर्म, कला, विज्ञान और साहित्य, इन सबका एक ही रूप था।

भाषा के माध्यम से मनुष्य पशुओ की अपेक्षा बाह्य-जगत के साथ सम्पर्क स्थापित करने मे अधिक समर्थ होता है। यह अतिरिक्त सामर्थ्य मनुष्य को और भी अधिक समर्थ बनाती है। भाषा, समाज और परम्परा के जरिये मनुष्य के ज्ञान मे विकास होता है, उस नये ज्ञान से भौतिक जगत के नये तत्वो का अनुसधान होता है। नये तत्वो का सम्पर्क फिर मनुष्य के मानस मे नय ज्ञान का सर्जन करता है। और वह नया ज्ञान नये तत्वो की खोज के लिए नई शक्ति प्रदान करता है। समय के दौरान मे मनुष्य को ज्यो-ज्यो बाह्य-जगत की तात्विक जानकारी अधिक होती गई—वह स्वय आतरिक रूप से अधिक विकसित और शक्तिशाली होता गया, और अधिक शक्तिशाली होने पर उसे भौतिक जगत को अभिज्ञता के लिए अधिक क्षमता प्राप्त होती गई।

इस पारस्परिक निर्भरता का क्रम न कभी सम्पूर्ण हुआ है और न कभी सम्पूर्ण होगा। ज्यो-ज्यो बाह्य-जगत के नये तत्वो की अधिकतम जानकारी होगी—त्यो-त्यो मनुष्य के अतर्जगत मे नई क्षमता, नये तत्व और नय रहस्यो का उद्घाटन होता रहेगा। बाह्य-जगत का अधिकतम सम्पर्क ही मनुष्य की आतरिक सम्पदा है। न उसके बाह्य-जगत की जानकारी कभी समाप्त होगी और न उसके आतरिक जगत का वैभव ही कभी नि शेष होगा।

बाह्य जगत की अभिज्ञता का वैभव—विज्ञान का वैभव है। आतरिक-जगत के रहस्य का वैभव—कला का वैभव है। मनुष्य अपनी आतरिक शक्ति के जरिये बाह्य-जगत का जो भी नया परिचय प्राप्त करता है, उसे एक वैज्ञानिक-शैली मे व्यवस्थित ढग से सजोकर उसे नय विषय का रूप प्रदान करता है ताकि उसकी सामाजिक उपयोगिता सुगम और सुलभ हो सके। इस तरह विज्ञान के विषयो की सख्या बढती रहती है। विज्ञान के उस नये यथार्थ का बोध कराने वाले शब्दो का चयन उसीके अनुरूप हो जाता है।

विज्ञान और कला मे प्रयुक्त होने वाले शब्दो की कोई भिन्न तालिका नही होती। कोई भी शब्द किसी भी क्षत्र मे काम दे सकता है। विज्ञान और कला के गद्य की न व्याकरण ही जुदा होती है और न इसकी वाक्य रचना ही। प्रासगिक प्रयोग के बीच ही शब्द अपनी व्यजना शक्ति का परिचय देता है।

जहाँ तक कर्त्ता [सब्जेक्ट] और वस्तु [आब्जेक्ट] का प्रश्न है सभी व्यजित विषयो मे य दोनो ही समान रूप मे उपलब्ध है। कला और विज्ञान के दायरे मे जो कुछ भी सृजित होता है उस सबका सृष्टा केवल मनुष्य ही है। और वस्तु के रूप मे बाह्य-जगत भी एक ही है। फिर इन विभिन्न शैलियो मे विभिन्नता का प्रवेश कैसे सम्भव होता है? इन विभिन्नताओ का कारण है—कर्त्ता और विषय का सम्बन्ध। इनके पारस्परिक सम्बन्धो की विभिन्नता ही अभिव्यक्तियो की विभिन्नता का मुख्य आधार है।

मनुष्य का वस्तु जगत से जो सम्बन्ध है उसकी अभिव्यक्ति होती है—विज्ञान मे। और वस्तु-जगत का मनुष्य से जो सम्बन्ध है उसकी अभिव्यक्ति होती है—कला मे। यो तो बाह्य-जगत का सम्यक रूप एक ही है किन्तु उसके तत्व भिन्न हैं। भौतिक जगत की यह तात्विक भिन्नता विज्ञान के विषयो की भिन्नता है। विषयो के अनुरूप उस 'यथार्थ-विशेष' का सम्यक बोध कराने वाले शब्दो का सम्यक प्रयोग तो भिन्न अवश्य होता है, किन्तु उसकी व्यजना

से कोई भावगत व रूपगत विभिन्नता नहीं होती। मनुष्य का विज्ञान के तत्वों से सम्बन्ध रहता है—वस्तुपरक। इसलिए मानवीय विभिन्नता विज्ञान में लक्षित नहीं होती। विज्ञान का सृष्टा स्वयं मनुष्य होने पर भी मनुष्य की आत्मा उसमें नहीं रमती। उसका मूर्त्त रूप उसमें नहीं होता। लेकिन मनुष्य के हृदय पर वस्तु-जगत की प्रतिक्रिया नाना रूपों में उद्वेलित होती है, इसलिए कलात्मक अभिव्यक्तियों में—भावगत और रूपगत—इतनी विभिन्नताएँ संभव बनती हैं। क्योंकि वस्तु-जगत की प्रतिक्रिया का केन्द्रस्थल कोई अमूर्त मानव, अमूर्त काल या अमूर्त्त स्थान नहीं होता। सभी प्रतिक्रियाओं का स्थान, समय, समाज और वातावरण के बीच एक मूर्त्त स्वरूप होता है। और इसी मूर्त्त भिन्नता पर यथार्थ की सदैव भिन्न प्रतिक्रिया होती है। मनुष्य के अंत जंगत की ये विभिन्न प्रतिक्रियाएँ समय के दौरान में कई कलात्मक शैलियों के माध्यम से नाना रूपों में प्रकट होती हैं।

भौतिक जगत की उत्तरोत्तर अधिक जानकारी के कारण अंतर्जगत की कई गुप्त निधियाँ प्रकट होती हैं। उन निधियों की प्रभाव-प्रक्रिया भी भिन्न होती है। वस्तु-जगत से उसका सम्बन्ध भी नया होता है—फलस्वरूप एक नई कला का उद्गम होता है। नई कला अपने नये सम्बन्धों के अनुरूप नई व्यंजना, नये प्रतीक, नई शैली और नई भाषा को जन्म देती है।

अगस्त, १९५८

शिल्प की भाषा

दृश्य जगत की प्रत्येक वस्तु का कुछ न कुछ आकार-प्रकार है और उसका कुछ न कुछ रग है। किसी भी वस्तु से उसकी आकृति व उसके रग को तत्वत भिन्न नही किया जा सकता। वस्तु या पदार्थ को अन्यथा करके रग और आकृति का कोई अमूर्त्त रूप नही होता। शिल्प-कला मे आकृति मुख्य है और रग गौण। वस्तु की निसर्ग आकृति को परिवर्तित करके मानवीय भावना या कल्पना द्वारा उसमे नई आकृति [सार्थक] उत्पन करना, शिल्प कला के अतर्गत आता है। आजकल 'शिल्प' एक भ्रामक शब्द बन गया है। कई अर्थों मे उसका प्रयोग होता है। यह कला का भी पर्यायवाची है। शिल्पी और कलाकार एक ही तथ्य के बोधक है। किन्तु विशेष प्रासगिक स्थलो मे इसका विशेष अर्थ ग्रहण करना चाहिए। हमने कुछ व्यापक अर्थ मे इसका प्रयोग किया है। किसी भी वस्तु या पदार्थ को मानवीय कौशल द्वारा नई आकृति प्रदान करने वाली सभी कलाओ को इसके अतर्गत माना है—क्या वास्तु कला, क्या मूर्ति कला, क्या स्थापत्य कला।

वस्तु को नई आकृति प्रदान करने की क्रिया मे दो बातें मुख्य रूप से अभिनिहित है। एक—स्वयं वस्तु की जानकारी, दो—औजारो की सहायता से वस्तु को प्रयोग मे लाने की विधि। वस्तु के गुणो की प्रारम्भिक जानकारी औजारो के निर्माण की आधार-भूमि है और औजारो के प्रयोग से वस्तु के नये गुण निरन्तर प्रकाश मे आते रहते है। अग्नि का आविष्कार होने से पहिले धातुओ का इस कदर सफल प्रयोग सम्भव नही था। अग्नि का एक विशेष गुण है—किसी गीली या नम वस्तु को पका कर उसे ठोस व मजबूत बना देना और ठोस या कठोर धातु को पिघला कर उसे तरल बना देना। अग्नि के

पहिले से ही मनुष्य मिट्टी को अपने हित मे बरतने लग गया था, किन्तु उनका पूर्ण उपयोग अग्नि के बाद ही सम्भव हुआ। अग्नि ने मिट्टी की काया बदल दी। धातुओं की उपयोगिता भी सहस्र गुना बढ़ गई। अग्नि की सहायता से उन्हें भिन्न आवश्यकताओं के खातिर भिन्न रूपों में बरता जाने लगा। कहने का आशय यह है कि समय के दौरान मे इन्सान को विभिन्न वस्तुओं की जानकारी होती गई—और औजारों की सहायता से वह उनको विभिन्न प्रकारों में बरतना सीखता गया। पत्थर, मिट्टी, लकड़ी, अस्थि, हाथी-दाँत, सींग, सीप लोहा, पीतल, सोना, चाँदी, काँसी, अष्टधातु, कथीर, शीशा, कागज का कूटा, मोम, लाख, काष्ठ, रत्न, उपरत्न, गधक आदि कई प्राकृतिक तथा कृत्रिम पदार्थ—शिल्प कला के वस्तु-साधन हैं। वस्तुओं के विभिन्न गुणों की वजह से उन्हें खोदकर, उभारकर, कोरकर, गढ़कर, ढोलिया कर, ढालकर, कूटकर, या उन पर ठप्पा या छापा करके विभिन्न कलात्मक आकृतियों का रूप प्रदान किया जाता है। शिल्पकला मे विषय-वस्तु, रूप और प्रतीक-शैली की समवेत व्यंजना मे स्वय वस्तु का भी जबरदस्त महत्त्व है। वस्तु की अपनी भावात्मक अभिव्यक्ति है जो रसिक के मन को प्रभावित करने मे कला के अलावा भी अपना असर रखती है। इसलिए शिल्पकला मे सवेदानुभूति के लिए वस्तु स्वय भी भाषा का काम करती है। वस्तु की अपनी प्रभाव-शक्ति होती है। दूसरी कलाओ से शिल्प का अपना यह अतिरिक्त चरित्र है।

प्राकृतिक वस्तुएँ मानवीय उपयोगिता के लिए प्राचीनतम उपकरण हैं। उनका अस्तित्व मनुष्य से भी पहले का है। पत्थर, लकड़ी, हड्डी, पहाड़ की चट्टानें इत्यादि के निर्माण मे मनुष्य के श्रम की कोई दखल नही है। उनका अपने हित मे बरतने की समझ उसकी अपनी है। अपनी आत्मरक्षा के लिए हथियार और अकृत्रिम औजारों के रूप मे उसने इनका प्रयोग सबसे पहिले किया था। यह प्रयोग ही उसकी प्राथमिक सभ्यता थी, विज्ञान की आदिवर्णमाला थी। आरम्भ मे बिलकुल सीधा और सहज प्रयोग और तत्पश्चात् विकास के दौरान मे दो प्राकृतिक वस्तुओ की सहायता से तराशना, घिसना अथवा काट-छाँट कर तीखा बनाना यही उसकी कला थी, यही उसकी जीवन-समस्या थी। अतएव शिल्प कला मनुष्य की प्राचीनतम कला है, प्राचीनतम संस्कृति और प्राचीनतम विज्ञान है, जिसकी सहायता से ही स्वय मनुष्य का अपना निर्माण हुआ है। प्राकृतिक वस्तुओ के प्रयोग ने मनुष्य के हाथ का कार्य ही

बदल दिया, उसकी शक्ति ही मोड दी। अगुलियों की पकड, लचक, नये सिरे से उनका हिलना-डुलना, वस्तु को थामने की शक्ति, रोक, उठाना, फेंकना इत्यादि क्रियाओं न मनुष्य के जीवन को ही परिवर्तित कर दिया। चलने-फिरने की क्रिया से स्वतन्त्र, हाथों के नये कौशल ने ही मनुष्य को मनुष्य बनाया है। प्रारम्भ के पत्थर, लकडी आदि प्राकृतिक वस्तुओं के प्रयोग ने मनुष्य के हाथ की शक्ति बदली तो उसके बाद मे उस बदली हुई शक्ति ने प्राकृतिक वस्तुओं की काया ही बदल दी। हाथ के कौशल द्वारा मानवीय भावना को व्यजित करके मनुष्य ने जड-वस्तुओं को सजीव बना दिया। हाथों के जादूभरे श्रम ने जड-वस्तुओं मे प्राण फूंक दिये। शिल्पकला मे प्रकृति के गौरव और मानवीय कला का अद्भुत समन्वय है।

तो स्पष्ट है कि शिल्पकला का उदभव प्रस्तर युग के हथियारों व औजारों मे ही हुआ है। भाषा के प्रारम्भिक अर्थ सकेत भी इन प्राकृतिक वस्तुओं से बने थे। चित्रकला का उदभव भी इन प्राकृतिक वस्तुओं के प्रयाग से हुआ है। इसलिए प्रारम्भिक अवस्था मे शिल्पकला और चित्रकला को जुदा भी नही किया जा सकता। कागज जैसी वस्तु के अभाव मे प्राकृतिक वस्तुओं पर ही चित्र अकित किये जाते थे। वस्तुओं की कुराई खुदाई और अकन आदि क्रियाओं से ही चित्रकला का विकास हुआ है। प्रारम्भ मे उन शिल्प-कृतियों के स्वय अपने प्रतीक नही हाते थे। उपयोगिता की अनगढ कारीगरी ही तब की कला थी। उन शिल्प-कृतियों का अस्तित्व किसी आवश्यकता का सहज और अविच्छिन्न परिणाम होता था—भले ही तब की उन आवश्यकताओं ने आज हमारे लिए कला का रूप धारण कर लिया हो। मनुष्य की अचेतन क्रिया की यत्रवत कारीगरी और यात्रिक साधन ही आगे चल कर स्वतत्र कलाओं मे परिणित होते गये। अनुकरण, पुनरावृत्ति, परम्परा और अभ्यास ने उन प्राकृतिक वस्तुओं पर अकित कुराई, खुदाई को कला के भावनात्मक प्रतीकों का रूप प्रदान किया है।

भाषा व गणित के प्रतीका को कान या आँख द्वारा सुना या पढा जाने पर भी इनका सीधा सम्बन्ध इद्रियो से नही है। इसकी बोधग्राह्यता के लिए इद्रियाँ तो साधन मात्र हैं। कला के प्रतीका का इन्द्रिया से सीधा सम्बन्ध है। बोधग्राह्यता के साथ साथ इन्द्रियों का अपना आनन्द भी है। अधे या बहरे व्यक्ति का भाषा, विज्ञान व गणित के प्रतीका से स्पर्श शक्ति द्वारा अवगत कराया जा

पहाड़, हरियाली, वृक्ष, नदी, नाले, धोरे, बादल इत्यादि शिल्प कला के अपेक्षाकृत मूर्त्त प्रतीकों मे नही ढाले जा सकते। गहराई और उभार की वास्तविकता व्यंजना को सीमित बना देती है। फिर भी शिल्प कला का अपना महत्व है जो किसी भी अश में चित्रकला द्वारा पूरा नहीं किया जा सकता। किसी भी कला का मूलभूत कार्य दूसरी कला से नही सारा जा सकता।

अगस्त, १९५८

सौंदर्यबोध की समस्या

प्रकृति तथा मानव-जीवन मे समाहित निसर्ग के प्रति सहज ग्रावर्षण की ललक पशुग्रो की तरह मनुष्य मे भी एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। पर्वत, नदी, बादल, समुद्र, वनस्पति, रग, नक्षत्र, चाँद, ध्वनि ग्रादि इन प्राकृतिक उपकरणो के प्रति सहज ग्रनुराग तथा मानवीय जगत में पुरुष की नारी के प्रति एव नारी की पुरुष के प्रति ग्रासक्ति; यौवन, शैशव एव समवयस्कता के प्रति प्रेमभाव इत्यादि ये सावेगिक भावनाएँ जन्मजात प्रवृत्तियाँ है। यह ग्राकर्षण ग्रथवा सौंदर्य, वस्तु मे है या व्यक्ति मे, या दोनो का परस्पर ग्रद्वैत सम्बन्ध है—यह दर्शन-शास्त्र का विषय है। ग्रौर शारीरिक-धर्म की इन मूलभूत प्रक्रियाग्रो की वैज्ञानिक जाँच-पडताल जीवशास्त्र का विषय है। हालाँकि मनुष्य के इन प्रकृतिगत रागात्मक सम्बन्धो का शिक्षा, सस्कार, सस्कृति, दर्शन, तथा परम्परा के समवेत प्रभाव द्वारा ग्राशिक परिवर्द्धन ग्रौर उनका यत्किंचित् सामाजीकरण होता है, फिर भी इनके मूलभूत स्वरूप मे विशेष परिवर्तन की सभावना नही बन पाती। इसलिए ग्राज दिन भी मनुष्य की इन स्वाभाविक सौंदर्यानुभूति का जवाब जीव-विज्ञान ही के पास है। सौंदर्य-शास्त्र इस रहस्य को उद्घाटित करने मे काफी कुछ ग्रसमर्थ है। सभी विज्ञान एक दूसरे के पूरक होते हुए भी ग्रपनी कुछ भिन विशेषता रखते हैं। इसलिए सौंदर्य-शास्त्र प्रकृति तथा मानव जीवन मे निहित सौंदर्य का विज्ञान नही बल्कि कला मे निहित सौंदर्य का विज्ञान है। वह सुन्दरता के नही—कला के सिद्धान्तो का प्रतिपादन करता है।

इसका यह तात्पर्य कदापि नही—कला के सिद्धान्तो का प्रतिपादन करने वाले सौंदर्य-शास्त्र का जीव-विज्ञान, दर्शन-शास्त्र या मनोविज्ञान ग्रादि ग्रन्य

सौंदर्यबोध की समस्या

प्रकृति तथा मानव-जीवन मे समाहित निसर्ग के प्रति सहज आकर्षण की ललक पशुओं की तरह मनुष्य मे भी एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। पर्वत, नदी, बादल, समुद्र, वनस्पति, रग, नक्षत्र, चाँद, ध्वनि आदि इन प्राकृतिक उपकरणो के प्रति सहज अनुराग तथा मानवीय जगत मे पुरुष की नारी के प्रति एव नारी की पुरुष के प्रति आसक्ति; यौवन, शैशव एव समवयस्कता के प्रति प्रेमभाव इत्यादि ये सावेगिक भावनाएँ जन्मजात प्रवृत्तियाँ है। यह आकर्षण अथवा सौंदर्य, वस्तु मे है या व्यक्ति मे, या दोनो का परस्पर अद्वैत सम्बन्ध है—यह दर्शन शास्त्र का विषय है। और शारीरिक-धर्म की इन मूलभूत प्रक्रियाओं की वैज्ञानिक जाँच-पडताल जीवशास्त्र का विषय है। हालाँकि मनुष्य के इन प्रकृतिगत रागात्मक सम्बन्धो का शिक्षा, सस्कार, सस्कृति, दर्शन, तथा परम्परा के समवेत प्रभाव द्वारा आशिक परिवर्द्धन और उनका यत्किंचित् सामाजीकरण होता है, फिर भी इनके मूलभूत स्वरूप मे विशेष परिवर्तन की सभावना नही बन पाती। इसलिए आज दिन भी मनुष्य की इन स्वाभाविक सौंदर्यानुभूति का जवाब जीव-विज्ञान ही के पास है। सौंदर्य-शास्त्र इस रहस्य को उद्घाटित करने मे काफी-कुछ असमर्थ है। सभी विज्ञान एक दूसरे के पूरक होते हुए भी अपनी कुछ भिन्न विशेषता रखते हैं। इसलिए सौंदर्य-शास्त्र प्रकृति तथा मानव जीवन मे निहित सौंदर्य का विज्ञान नही वल्कि कला मे निहित सौंदर्य का विज्ञान है। वह सुन्दरता के नही—कला के सिद्धान्तो का प्रतिपादन करता है।

इसका यह तात्पर्य कदापि नही—कला के सिद्धान्तो का प्रतिपादन करने वाले सौंदर्य-शास्त्र का जीव-विज्ञान, दर्शन-शास्त्र या मनोविज्ञान आदि अन्य

विज्ञानों से कोई वास्ता नहीं। वास्ता है—और बहुत करीब का वास्ता है। कला के सिद्धान्तों की वैज्ञानिक-व्याख्या के लिए मनुष्य से सम्बन्धित जितना भी आवश्यक है—वह सब हमें विस्तारपूर्वक जानना पड़ेगा। क्योंकि वह मनुष्य ही है जो कला की सृष्टि करता है, कला से रस ग्रहण करता है। जिस प्रकार स्वयं मनुष्य की देह और उसकी चेतना को टुकड़ों में नहीं बाँटा जा सकता, उसी प्रकार मनुष्य से सम्बन्धी विज्ञान व कलाओं को भी परस्पर विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। तात्विक प्रमुखता की वजह से सभी विज्ञान एक दूसरे से भिन्न भी हैं और मानवीय-समानता की वजह से परस्पर समान भी। अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हुए भी ये एक दूसरे से विच्छिन्न नहीं हैं। इसलिए सौंदर्य शास्त्र को केवल अपने ही में सम्पूर्ण रूप से नहीं जाना जा सकता।

जिस प्रकार हर रंग और रेखा चित्र नहीं है, हर ध्वनि संगीत नहीं है, शरीर की हर भाव भंगिमा नृत्य नहीं है, वस्तु को हर आकृति शिल्प नहीं है, हर शब्द साहित्य नहीं है—उसी प्रकार हर ध्वनि, हर मुद्रा, हर रंग व रेखा और हर आकृति से प्राप्त होने वाला आनन्द कला का आनन्द नहीं है। कला के आनन्द के लिए तत्सबंधी ज्ञानेन्द्रियों का माध्यम आवश्यक है, किन्तु इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त होने वाला प्रत्येक आनन्द कला नहीं है। इसलिए सौंदर्य-शास्त्र इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले प्रत्येक आनन्द, प्रत्येक रस, और प्रत्येक सौंदर्यानुभूति की व्याख्या नहीं करता।

भाषा पहिले है और व्याकरण बाद में। भाषा से आगे व्याकरण की न सीमा है और न गति। व्याकरण कोई भी ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं कर सकती—जिसका भाषा के आम-प्रचलन में स्वयं अपना अस्तित्व न हो। इसलिए स्वयं भाषा ही व्याकरण की निश्चित सीमा है। इसी प्रकार कला पहिले है और सौंदर्य शास्त्र बाद में। कला से आगे सौंदर्य शास्त्र की भी सीमा नहीं है। इसलिए सौंदर्य-शास्त्र कोई भी ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं कर सकता जिसका कलाओं के आम प्रचलन में स्वयं अपना अस्तित्व न हो। अतएव स्वयं कला ही सौंदर्य शास्त्र की निश्चित सीमा है। इतना सब कुछ होते हुए भी भाषा की व्याकरण और कला के सौंदर्य-शास्त्र दोनों में एक मूलभूत फर्क है। कला के प्रतीकों से भाषा के प्रतीक अर्थात् शब्द अधिक पूर्ण और स्पष्ट हैं—इसलिए व्याकरण भी सौंदर्य-शास्त्र से अधिक पूर्ण और स्पष्ट है। भाषा का दायरा कलाओं से बहुत अधिक व्यापक है। उसके बिना तो

मनुष्य और समाज का जीवन ही असम्भव है—किन्तु कला एक विशेष आनन्द है। उसका क्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित है। उसकी अनिवार्यता केन्द्रित है। व्याकरण विज्ञान-सम्मत और पूर्ण है, इसलिए अपेक्षाकृत रूढ़ और परिवर्तन-शून्य है। सौंदर्य शास्त्र असपूर्ण और अस्पष्ट है—फिर भी गतिशील और विकासजन्य है। उसके सिद्धान्तो मे परिवर्तन होता रहता है।

प्राकृतिक इन्द्रियो से जो प्रतीति होती है यदि वही ज्ञान है तो फिर ज्ञान के विकास का प्रश्न ही व्यर्थ है। इन्द्रियो का यह प्रत्यक्ष बोध तो आदिम-मानव मे भी ऐसा ही था—पशुओ मे भी वही है। शारीरिक विकास को पूर्णतया हासिल करने के बाद ही मनुष्य के मानसिक जीवन की कहानी प्रारम्भ होती है। केवल मात्र ज्ञानेन्द्रियो के जरिये जब तक आदिम मनुष्य वस्तु-जगत से सम्पर्क स्थापित करता रहा, तब तक उसका जीवन पशुवत् ही रहा होगा। ठीक पशुओ ही की तरह ज्ञानेन्द्रियो के द्वारा जैसा-जो-कुछ भी प्रतीत होता था, वही उसका ज्ञान था। इन्द्रियो का प्रत्यक्ष-बोध ही उसकी वास्तविकता थी। इन्द्रियानुभूति और उसकी अतश्चेतना मे कोई अन्तर नही था। किन्तु भाषा के रूप मे उन सामाजिक अर्थ-सकेतो से आदिम-मानव के इन्द्रिय-बोध मे एक गुणात्मक परिवर्तन आया। पहिले उसे जैसा जो कुछ भी प्रतीत होता था—वही उसका ज्ञान था, वही उसकी चेतना थी। लेकिन तत्पश्चात् इन सामाजिक प्रतीको की सृष्टि के कारण उसके अतर्मन मे अतिरिक्त चेतना का निर्माण हुआ। तब वह सामाजिक चेतना के द्वारा इन्द्रिया के माध्यम से अनुभूति ग्रहण करने लगा। उसकी इन्द्रियो का मानवीकरण हो गया। चेतना और ज्ञान के प्रकाश मे उसे प्रतीति होने लगी। चेतना के नियन्त्रण से ज्ञानेन्द्रियो की शक्ति बढी—ज्ञानेन्द्रियो की विकसित शक्ति से चेतना व ज्ञान का और अधिक विकास हुआ। ज्ञान के विकास ने ज्ञानेन्द्रियो की शक्ति को पुन प्रभावित किया। यह अविच्छिन्न क्रम निरतर चलता रहा। इस क्रम की मूल प्रेरक शक्ति थी—मनुष्य की वाणी जो स्वय भी निरन्तर विकसित होती रहती थी। वाणी के विकास ने मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित किया। उसका मध्यवित्ति-स्नायु-केन्द्र विकसित हुआ, मस्तिष्क विकसित हुआ, ज्ञानेन्द्रियो की शक्ति विकसित हुई। ये सभी शक्तियाँ परस्पर शक्ति ग्रहण करती रहीं—परस्पर शक्ति प्रदान करती रहो। परिणामस्वरूप समाज व मनुष्य का विकास होता रहा।

सही है कि बिना इन्द्रियों के ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता, किन्तु साथ ही यह भी सही है कि बिना ज्ञान के इन्द्रियों की शक्ति का प्रकाश सर्वथा नगण्य है। परस्पर अविच्छिन्न सम्बन्ध होते हुए भी आज मनुष्य की वास्तविक शक्ति उसका समाज और श्रम है, न कि इन्द्रियाँ ! जिस प्रकार इन्द्रियों का प्राकृतिक बोध—ज्ञान नहीं—बल्कि एक भ्रान्त प्रतीति है—उसी प्रकार इन्द्रियों द्वारा अनुभूत प्रत्यक्ष आनन्द वास्तविक और सच्चा आनन्द नहीं है। जिस प्रकार ज्ञानात्मक चेतना द्वारा अनुशासित इन्द्रियों की प्रतीति वास्तविकता के अधिक सन्निकट है—उसी प्रकार कलात्मक चेतना द्वारा अनुशासित इन्द्रियों का आनन्द वास्तविकता के अधिक समीप है। कलात्मक चेतना का अपना कोई स्वतन्त्र या नैसर्गिक रूप नहीं है। वह ज्ञानात्मक चेतना की आधार-भूमि पर ही विकसित होती है। किन्तु ज्ञानात्मक चेतना पर आश्रित होते हुए भी सत्य को व्यंजित करने की शक्ति कलाओं मे अधिक गहन और तीक्ष्ण है, क्योंकि कला का सीधा सम्बन्ध इन्द्रियों से रहता है।

ज्ञान प्राप्ति के साधन—ये सामाजिक प्रतीक—मनुष्य को दैविक वरदान के रूप मे एक साथ ही कहीं से अकस्मात् मिल नहीं गये थे। विकास-क्रम मे उसने इन प्रतीकों को निर्मित किया है—चाहे उस निर्माण का क्रम उसकी अचेतन अवस्था मे ही क्यों न सम्पन्न हुआ हो। इन अर्थ-संकेतों के क्रमिक विकास का सही ब्योरा आज बता सकना मुश्किल है; किन्तु यह निश्चित है कि नृत्य, संगीत और चित्रकला के रूप मे आज जो स्वतन्त्र कलाएँ विद्यमान हैं—उनका आदिम-युग मे कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं था। ये कलायें ही तब की भाषा थी। इन्हीं कलाओं से वाणी का उद्भव और विकास हुआ है। किन्तु वाणी के रूप मे शब्द-संकेतों का स्वतन्त्र रूप से निर्माण होने पर इन आदिम बीज-संकेतों अर्थात् भाव-भंगिमा, ध्वनि, और चित्रों का लोप नहीं हो गया। वाणी के साथ साथ ये प्राचीन भावाभिव्यंजनाएँ स्वयं अलग से भी विकसित होती गई। एक विशेष आवश्यकता के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने पर भी एक बार जब उनका अस्तित्व निर्धारित हो गया तो वे स्वयं मे ही एक आवश्यकता बन गई—सत्य को व्यंजित करने की एक नई आवश्यकता। विभिन्न समयों की तत्कालीन आवश्यकताओं ने ही आगे चल कर स्वतन्त्र कलाओं का रूप धारण किया है।

विभिन्न कलाओं के द्वारा वास्तविकता को विभिन्न रूपों मे व्यक्त करने

वाले ये कलात्मक प्रतीक भाषा से भिन्न होने पर भी सौन्दर्यग्राहृयता के लिए स्वयं मे पूर्ण और पर्याप्त नही है। भाषा मे व्यक्त ज्ञान के द्वारा परिमार्जित मस्तिष्क ही कला के सौन्दर्य को वास्तविक रूप मे ग्रहण करने के लिए समर्थ होता है। कला मे निहित सौन्दर्य को ज्ञान और अभ्यास की मर्मज्ञता से ग्रहण करना पडता है—इन्द्रियो की स्वस्थता ही इसके लिए पर्याप्त नही है। भाषा के द्वारा अर्जित ज्ञान पर आश्रित होते हुए भी—कला का सौन्दर्य सत्य को व्यजित करने का उससे भी श्रेष्ठ और सशक्त साधन है।

अगस्त, १६५८

वायु बरसात और बादल

प्रकृति के माध्यम से मानव-समाज ने जितना ज्ञान और जितनी शिक्षा हासिल की है, उसकी तो कोई सीमा ही नहीं है, उसका तो कोई विराम और अन्त ही नहीं है। प्रकृति, मनुष्य की सबसे बडी युनिवर्सिटी है। इस युनिवर्सिटी से मनुष्य ने कितना सीखा है, कितना सीखता चला जा रहा है और कितना सीखेगा—इसका न तो कोई पार है और न इसकी कोई सीमान्त रेखा ही। सूरज, चाँद, तारे, नक्षत्र, वायु, बरसात, बादल, बिजली, पहाड, नदी, नाले, समुद्र, वृक्ष, हरियाली, पशु, पक्षी, सर्दी, गर्मी, उषा, सध्या, तूफान, आंधी और गर्जन आदि ने मनुष्य को कदम-कदम पर वे पाठ पढाये है, जिन्हे कभी भुलाया नही जा सकेगा। इन्ही पाठो को सीखते-दोहराते ही मनुष्य आज मनुष्य बन सका है। प्रकृति के साथ मानव-समाज का बडा घनिष्ठ सम्बन्ध है।

आदिम मानव की यह एक स्वाभाविक वृत्ति है कि वह बाह्य वस्तु जगत को अपनी कल्पना के द्वारा, अपनी आकाक्षाओ के अनुरूप चित्रित करता है। प्रकृति के सभी उपकरण उसके लिए चेतनाशील है, सक्रिय है, और वह समझता है कि, वह प्राकृतिक सक्रियता उसकी चेतना ही का एक अश है। अपनी मानवीय भावनाओ का पुट देकर वह प्रकृति को ठीक अपने ही समान समझने लगता है। वह प्रकृति मे अपनी आत्मा की झाँकी देखता है। अपने स्वरूप का दर्शन पाता है। वह धरती को केवल धरती कह कर ही सन्तुष्ट नही होता, 'धरती माता' कहे बिना उसके आतरिक शिशु-मन को ठीक से सान्त्वना नही मिलती।

आदिम मानव प्रकृति को अपने प्रत्यक्ष व्यवहार मे बरतता है। सीधे और

सहज रूप में उनसे काम लेता है। वह सोचता है कि प्रकृति उसकी कामनाओं को, उसकी आवश्यकताओं को पूरा करती है। उसके मन की बात को समझती है। उसका कहा मानती है। इसलिए वह उसकी प्रार्थना करता है, स्तुति करता है। उसकी प्रशंसा में मंत्र उच्चारित करता है। वेदों में प्राकृतिक उपकरणों ही को 'देव' माना गया है और उनकी स्तुति की गई है। अन्तरिक्ष, सूर्य, चन्द्र, सन्ध्या, इन्द्र, वरुण, मारुत, वायु, वात, पर्जन्य, अग्नि आदि में प्रकृति के उपकरण ही वैदिक 'देव' हैं। इन देवों में सबसे बड़ा देव है—इन्द्र—विस्तृत नीले अंतरिक्ष का देवता, सारी दुनिया का पालनहार। उसके हाथ में वज्र है। वह बरसात देने वाला है। उसका आदेश पाकर ही बादल एकत्रित होते हैं। वह अंधकार का विजेता है। प्रकाश फैलाने वाला है। वह सारी दुनिया में, सारी प्रकृति में, जीवन का संचार करता है। वैदिक इन्द्र, केवल वर्षा ही का देव नहीं है। उसका कार्यक्षेत्र बादल और बरसात से अधिक है। वह दुश्मनों का संहार करने वाला है। आर्यों का रक्षक है। लेकिन कालान्तर में इन्द्र, बरसात और बादल ही का पर्यायवाची बन कर रह गया। वैदिक काल में बादल और वर्षा का देव था—पर्जन्य। इसी सम्बन्ध को लेकर ही वेदों में इसकी ऋचाएँ हैं। बरसात के लिए बार-बार पर्जन्य की कामना की जाती थी। पर्याप्त वर्षा होने पर, उससे थमने के लिए भी विनती की जाती थी—'अब शान्त हो जाओ पर्जन्य! खूब बरस चुके तुम! देखो, तुम्हारे प्रसाद से निर्जन मरु भी यात्रा के योग्य हो गये हैं। अन्न-दान के लिये वनस्पतियाँ अंकुरित हो रही हैं। प्रजाजन सर्वत्र तुम्हारी प्रशंसा के गीत गा रहे हैं।' वात, वायु और मारुत—वैदिक-काल में हवा, तूफान और अंधड़ के देवता थे और आज दिन भी वे बहुत-कुछ रूप में इन्हीं अर्थों के लिए प्रयुक्त होते हैं। राजस्थानी लोक गीतों से पर्जन्य लुप्त हो गया। बरसात का पूरा कार्य-क्षेत्र इन्द्र के अधिकार में आ गया। बादलों की गर्जन को सुन कर कहा जाता है—'इन्दरियो घररावे है।' बरसाती बादलों को उमड़ते देख कर कहा जाता है—'इन्दरजी ओलर-ओलर आवें जी।' 'इन्दर राजा ने पानी की झड़ लगादी है।' 'इन्दर राजा कुपित हो गये हैं—ठंडी हवा चल रही है।' जब बिजलियाँ पर बिजलियाँ चमकती हैं, पानी मगन होकर बरसने लगता है, मोर खुशी के मारे बोलने लगते हैं, दादुर अपनी ही राग अलापते हैं, तब कहा जाता है—'बरसात के सारे बाजे लेकर इन्दर राजा आ गया।' राजस्थानी लोक गीतों में इन्द्र केवल वर्षा का देव है।

किसान का प्रकृति के साथ 'सौन्दर्य-प्रेम' का ही सम्बन्ध नही है। प्रकृति उसके जीवन की सर्वोपरि आवश्यकता है। लोक-रुचि, प्रकृति को रजन-सामग्री ही मे निःशेष नही कर डालती। लोक-जीवन और प्रकृति का घनिष्ट रिश्ता है। प्रकृति का प्रत्येक उपकरण अपने-अपने तरीको से किसान की जिंदगी को प्रभावित करता है। 'जेठ के महीने मे यदि भरपूर गर्मी पडे तो शहर के वासी घबरा उठेंगे। गरमी न पडने की कामना करेंगे। हाय-हाय करने लगेंगे। लेकिन गाँव के किसान का मन इस 'आडग' [गरमी] से नाच-नाच उठेगा। 'जेठ मास की गरमी किसान को वर्षा का सदेशा देती है'। वह इस गरमी से घबराता नही, खुश होता है। 'काती महीने की बरसात' से शहरी जीव शायद आनन्द प्राप्त कर सकता है, लेकिन किसान का मन भय मे काँप उठेगा, क्योकि यह बरसात उसकी 'फसल के लिए बहुत हानिकारक' है। 'मघा नक्षत्र बरसता है तो पृथ्वी अघा जाती है'। जब 'उत्तरा नक्षत्र बरस जाय' तो किसान की खुशी का पार नही होता, क्योकि वह जानता है, यह बरसा हुआ पानी, उसकी फसल के लिए बहुत ही लाभप्रद होगा। भरणी नक्षत्र' बरसने पर घरणी [स्त्री] तक छोडना पडेगा। यह बरसात फसल को सर्वथा नष्ट कर देती है, जिससे किसान की विपदा का पार नही रहता। असलेखा नक्षत्र' की बरसात किसान को रोगों की सूचना देती है। आर्द्रा नक्षत्र' की हवा उसे अकाल की सूचना देती है। जेठ की पुरवाई मे किसान को अकाल के आसार नजर आते है। 'दखिनी हवा' उसे बरसात की खुश खबरी सुनाती है। उत्तर और पश्चिम दिशा मे चमकने वाली बिजली' को वह केवल बिजली मात्र ही नही समझता—जोर से पानी बरसन की सदेशवाहिका समझता है। किसान का विश्वास है कि 'ईशान-कोण की बिजली' जरूर पानी बरसायेगी। 'बादल भी हो और गर्मी भी पडे तो निश्चित पानी बरसता है'। 'शाम को इन्द्र-धनुष दिखलाई पडे और सवेरे मोर बोलें' तो किसान को वर्षा की आशा बँधती है। जब किसान को यह मालूम हो जाय कि 'गरमी से मिट्टी की हडिया मे घी पिघल गया है, वह देखता है कि चीटियाँ अडे लेकर बाहर आ गई है और चिडिया बालू रेत मे नहा रही है तो उसे सोलह आने विश्वास हो जाता है कि इतना पानी बरसेगा कि उसे धरती भी न झेल सकेगी'। 'सवेर की गजन खाली नही जाती, पानी बरसा कर ही रहती है'। किसान का प्रकृति के साथ ऐसा ही वैज्ञानिक सबध है। प्रकृति उसकी मौत और जिंदगी की एक समस्या है। प्रकृति के साथ

उसका केवल व्यर्थ लगाव नहीं होता। प्रकृति उसे जिन्दा रखती है, प्यार करती है, दुलारती है, उस पर खीझती है। उसे नुकसान पहुँचाती है। वह प्रकृति के आसरे ही जीता और मरता है।

लोक-जीवन का प्रकृति के प्रति वैयक्तिक नहीं, सामूहिक सम्बन्ध रहता है। इसलिए लोक गीतो मे प्रकृति का चित्रण सामूहिक भावना का ही प्रतीक होता है। व्यक्ति की इच्छा, आकांक्षा और रुचि का प्रवेश वहाँ सम्भव नहीं। यही कारण है कि लोकगीतो मे वैयक्तिक विकृतियो के लिए कोई मौका ही नही रहता। वैयक्तिक विकृति काले-घने बादलो मे केवल अपनी प्रेयसि की अलको को निहारती है चन्द्रमा मे केवल अपनी प्रियतमा का मुख खोजा करती है उषा की लालिमा का अपनी प्रयसि के अरुण नयनो से मिलाप करती है, बरसात को वियोगी अश्रु बिन्दु समझती है, गरमी की उष्णता को वियोगिनी की आहा का परिणाम बतलाती है। लेकिन सामूहिक अनुभवो द्वारा व्यजित लोक गीतो मे प्रकृति के प्रति ऐसा वैयक्तिक मखौल कही नही मिलता। उनमे समूह की औसत भावनाओ का सहज चित्रण होता है। समाज से विच्छिन्न व्यक्ति की कुठित मनोवृत्तियाँ प्राकृतिक उपकरणो को भी अपनी कुठित विकृतियो से कलुषित कर देती हैं। लेकिन गाँव-वासियो के लिए प्रकृति उनकी सामूहिक अनुभूतियो को उभारती है। काम करने के लिए उन्हे सामूहिक रूप से प्रेरणा और उत्साह देती है। बरसाती बादलो को देख कर लोक-जीवन मे समान ही सामूहिक प्रतिक्रिया होती है। क्योकि बादल का पानी उनके खेतो को सींचता है, धान उगाता है। खेती ही उनके जीवन का आधार है। बादल उनकी कल्पना का साथी नही, बल्कि उनकी जिन्दगी का पोषण करने वाला है। इसलिए बादल की गर्जना, उन्हे खेती की तैयारी के खातिर, सामूहिक आह्वान सुनाती है। बादल की इस जीवनदायिनी गर्जना को सुन कर वे खुशी और उत्साह के साथ नाचते हैं, गाते हैं—'आया, आया, जेठ आषाढ आया। आई बरसात की भली ऋतु आई। इन्दर राजा अपनी गर्जना के बहाने चेतावनी दे रहे है। हल के साज तैयार करो! जेई के सींग बँधाओ! कस्सी, गडासी के धार दिलवाओ! खोडियो के डंडे दिलवाओ! चऊ बनवाओ! हळवाणी तैयार करवाओ! बाजरी के लिए बीकानेर के बीज मँगवाओ! सौ बीघो मे मरद बाजरी बोओ और सौ बीघो मे फोडयाळी ज्वार। —खूब मोठ-बाजरा पैदा हो और खूब ज्वार पैदा हो। बरसात की भली ऋतु

आई है। इन्दर राजा गरज रहे है। अपने खेत तैयार करो ! अपने हल तैयार करो ! अपने बैल तैयार करो ! गाँव के वासी बरसात का ऐसा ही मतलब लेते हैं। उनके लिए बरसात का यही अर्थ हुआ करता है।

बरसात आती है तो वे खेती के लिए अपने को तैयार करते है। काम मे उत्साह और जोश दिखलाते हैं। नही आती है तो उसके लिए 'इन्दर राजा' की प्रार्थना करते हैं। विनती करते हैं। 'मेघासिन रानी' से पानी के लिए कामना करते है—'आज हमारे देश पर मेहर करो, इन्दर राजा ! बरसो, जल्दी बरसो ! चन्दन की चौकी बैठने को दूंगी, तुम्हें। पवित्र मन और पवित्र दूध से तुम्हारे पाँव पखारूँगी। उजले चावल राँधूंगी, तुम्हारे लिए। हरे मूगो की घुली हुई दाल बनाऊँगी। ताँबे की कटोरी मे घी गरम करूँगी। पापड सेकूँगी। तुम भोजन करोगे और मैं तुम्हारी अगुलियो को निरखूँगी। तुम चलोगे तो मैं तुम्हारी मधरी चाल निहारूँगी। पोढने के लिए पचरगा पलग दूँगी। झालरदार गलीचा दूँगी। नरम-नरम बिछौना दूँगी। आज हमारे देश पर मेहर करो, इन्दर राजा ! पवित्र दूध से तुम्हारे पाँव पखारूँगी।' आदिम मानव प्रकृति को अपनी कल्पना के अनुसार देखता है। प्रकृति को वह अपनी मानवीय सौन्दर्य-भावना मे ढाल देता है। प्रकृति मे वह अपनी आत्मा के प्रकाश को निखारता है। वह प्रकृति को अपनी चेतना के रूप मे ग्रहण करता है। इन्दर राजा जैसे उसीके बीच का एक साधारण मनुष्य हो। ठीक मनुष्य के समान ही उसका आकार है। वह मनुष्य के समान ही खाता पीता है। रग, रूप, व्यवहार, आहार, निद्रा, तृष्णा—सब मनुष्य के समान ही है। राजस्थान मे अतिथि का जैसा प्रत्यक्ष स्वागत होता है—इन्दर राजा के लिए भी वही स्वागत और सम्मान-भावना पेश की गई है। मूँगो की दाल, उजले चावल, पापड आदि से उसे भोजन कराया जायेगा। सोने के लिए उसे सुन्दर बिछौना दिया जायेगा। दूध से पाँव पखारने की भावना मे अतिशय सम्मान, श्रद्धा, प्यार और आत्मीयता का बोध होता है। प्रकृति के उपकरण [इन्दर] का मनुष्य रूप मे दीक्षित कर लिया गया है। प्रकृति को अपनी चेतना ही का अश मानने के कारण, आदिम मानव का यह विश्वास है कि वह उससे अपनी चाहना के अनुरूप कार्य सम्पन्न करवा लेगा।

इन्दर राजा को तो मेहर करने की केवल प्रार्थना-भर है। किंतु 'मेघासिन रानी' के स्त्रियोचित कोमल मन को द्रवित करने के लिए, उसके प्रति और भी

आत्मीय सहजता प्रगट की गई है। 'मेघासिन रानी ! तुम कहाँ चली गई ? तुम्हारे बिना तो हमारे सब हाल ही बेहाल हो गये हैं। आओ, खूब जम कर गहरी वर्षा करो ! बैठने के लिए, ऊँचे चौक पर तुम्हारा आसन है। निर्मल स्वच्छ दूध से तुम्हारे *पाँव पखारूँगी। देखो तो, तुम्हारे कारण भाई ने अपनी* प्यारी बहिन तक को छोड दिया। बैलो ने कंधो पर से जूआ उतार दिया। नारियो ने अपने पतियो ही को छोड दिया। गायो ने बछडो का त्याग कर दिया। भेंसियो के थन मे दूध ही सूख गया। देखो तो जरा तुम, इन सबको। तुम्हारे बिना तो हमारे देश का हाल ही बिगड गया। आओ, मेघासिन रानी ! *जल्दी आओ। जम कर गहरी वर्षा करो ! उजले दूध से तुम्हारे पाँव* पखारूँगी।' राजस्थान की सूखी धरती पर वास करने वाले किसान की सामूहिक वेदना का उत्कट उदाहरण इसके अन्यथा और क्या हो सकता है ? सामूहिक अभाव सामूहिक वेदना जैसे गीत के प्रत्येक आखर मे सजीव हो उठी हो। वर्षा के अभाव मे समस्त कृषक जाति की आतरिक अनुभूति ही जैसे इन पक्तियो म अपनी मानवीय चेतना लेकर घुल मिल गई हो।

सांस लेने के लिए, जितनी हवा जरूरी है—राजस्थान के गाँवो मे बरसात भी उतनी ही जरूरी है। वर्षा के बिना गाँवो की सामूहिक जिन्दगी तो जैसे चल ही नही सकती। लेकिन बादल यहाँ के गाँवो को अक्सर धोखा दे जाते हैं। काल पडता है। सूखा पडता है। जमीन का वासी किसान, आकाश की ओर टकटकी लगाये देखा करता है—कोई छोटी-सी बदली आये। कोई 'भुरजाळा' बादल दिखलाई पडे। उसकी जिंदगी तो बादलो मे अटकी पडी है। राजस्थानी किसान के लिए बादलो मे केवल पानी ही नही बरसता, उसकी जिंदगी बरसती है। पशुओ के लिए चारा बरसता है। खाने के लिए धान बरसता है। बच्चो के लिए दूध बरसता है। बरसाती हवाएँ उनकी जिंदगी का सदेशा लेकर आती है। 'पुरवा' उसकी बहिन है। 'सूरया' उसका भाई है।

पुरवा बहिन

छिनएक चालो परवा भाण !
मेहां री म्हांरे लग रही चाव,
छिनएक चालो परवा भांण !

दोय घडी जे रळको देवै—तो
ताली भर ज्याय आगण माय,
छिनएक चालो परवा भाण !
दोय घडी जे रळको देवै—तो
बंधिया पाडा पीवै ठाण,
छिनएक चालो परवा भाण !
दोय घडी जे रळको देवै—तो
छिल-छिल भर ज्याय सरवर ताळ,
छिनएक चालो परवा भाण !
दोय घडी जे इकलग चालै—तो
बोदी दुनिया फिर जी ज्याय,
छिनएक चालो परवा भाण !

सूरया भाई

सूरया वीर बदळी ल्याई रै !
झाला दे-दे तोय बुलाऊं
थू म्हारे देश आई रै,
सूरया वीर बदळी ल्याई रै !
जेठ न आवै, साढ न आवै
सावण अलवत आई रै। सूरया वीर...
पग पाणी पालर कर दे
तो सिर बादळिया छाई रै। सूरया वीर...
पिणियारघा खुशियाळी करदे
घर मे ताळ भराई रै। सूरया वीर...
पिणियारघा तोय घरा उडीकै
हाळी मेता माई रै। सूरया वीर...
बूढा-ठेरा यून पिछाणै
थू दोय झोला दे ज्याई रै,
सूरया वीर, बदळी ल्याई रै !

आदिम मानव, प्रकृति के उपकरणो को कभी मानव रूप मे ग्रहण करता

है, कभी उन्हें अपने पारिवारिक सम्बन्धी समझना है। धरती उसकी माँ है। आकाश उसका पिता है। पुरवा उसकी बहिन है। सूरया उसका भाई है। जैसे—भाई, बहिन, माता, पिता उसका कहा नहीं टालते—उसी प्रकार वह प्रकृति से भी यही आशा करता है कि रिश्ते की आत्मीयता प्रकट करने पर वह भी उसका कहा नहीं टालेगी। जिस प्रकार कोई मनुष्य किसी को हाथ के इशारे से अपनी ओर बुलाता है, उसी प्रकार किसान की स्त्री, बादल को सम्बोधित करते हुए कहती है - 'मेरे मारूजी तुझे झाला देकर बुला रहे हैं—खेतो पर बरसने के लिए आओ बदली! बाँये मत जाना! दाहिने मत जाना! सीधे हमारे खेतो पर आना! खाली मत जाना! सूरया के साथ आना! भरी हुई आना! धीरे मत बरसना! दूध की झडी लगा कर, बडे जोरो से बरसना! मेरे मारूजी [प्रियतम] हाथ का झाला [सकेत] देकर तुझे बुला रहे हैं। जल्दी से दौडी चली आओ, बदली!' एक दूसरे गीत मे है—'मारूजी के खेतो पर जाकर बरसो, बदली! धोरो पर बरसो! मैदानो पर बरसो! मगरो पर बरसो! इतना बरसो की सारी नाडियाँ छिल जाँय। सारे तालाब छिल जाँय। जेठ बीत गया। आषाढ बीत गया। सावन भी सूखा जा रहा है। हर पल और हर घडी, हम तुम्हारे सुगन [शकुन] मानते है। तुम्हारी बाट निहारते हैं। भागी चली आओ! दौडी चली आओ! समुद्रो से खूब पानी भरती लाओ! बादलो का दल भी अपने साथ लेती आओ! दो-दो गेडे करना। [दो-दो बार बरसना]। जाओ बदली! मारूजी के खेतो पर जाकर बरसो! खूब बरसो!' गाँवो के जीवन को, बरसाती बादलो की सामूहिक आवश्यकता ही इन गीतों के विषय सँवारती है—उनके रूप-तत्व का निर्माण करती है। सामूहिक जिंदगी ही इन गीतो की निर्माता है। इसलिए वैयक्तिक आलोचना कभी भी अपनी व्यक्तिवादी कसौटी पर इन गीतो को परख नही सकती। यह कसौटी स्वय ही खोटी है। खरे और वास्तविक गीतो की परख के लिए कतई काबिल नही है। यदि मानव की अपनी जिन्दगी सुदर है तो ये गीत भी निहायत सुन्दर हैं, क्योकि इन गीतो के हर शब्द मे मनुष्य की जिन्दगी वास करती है।

'झिर मिर झिर मिर मेहूडो बरसै, बादळियाँ घररावै ए'। और 'मेरे जेठजी मूड कर रहे हैं। कँटीली झाडियाँ काट रहे हैं। पति मेरा हल चला रहा है। देवर खेत साफ कर रहा है। जेठाणी सबके लिए रोटी ला रही है। । भतीजा मेरा रेवड चरा रहा है। नणदल गायों को घेर रही है। ग्वालो को

घी का चूरमा खिलाऊँगी। हाळियो को खीर और लापसी जिमाऊँगी। भिर-मिर भिर-मिर मेहूडो बरसे, बादळियो घररावे ए।' यह गाँवो की जिंदगी है। गाँवो के गीतो मे व्यक्त हुई है।

एक पत्नि अपने पति से गहनो की माँग करती है। पति उत्तर देता है—'गहनो के लिए इतनी क्या बिलख रही हो ! तुम्हे तो अपने गहनो की ही लगी है और धरती सारी मेह के बिना तरस रही है। बस धरती पर बरसात होने दो, तुम्हे गहनो ही गहनो से लाद दूंगा। जरा पानी बरस जाने दे—फूंदो वाले बाजूबद बनवा दूंगा, तेरे लिए। जगमगाता कीमती साळू खरीद दूंगा। हाथीदांत का चुडला चिरवा दूंगा। पनडी वाला तेवटिया घडवा दूंगा। मखमल की जूतियाँ ला दूंगा। गहनो के लिए क्या इतना बिलख रही है। जरा बरसात होने दे। तेरी सुन्दर देह को गहनो से लाद दूंगा।' राजस्थान की सूखी धरती और बरसात का कितना गहरा सम्बन्ध है ! राजस्थान के लोक-जीवन मे बरसात की जितनी महत्ता है, उससे कम महत्ता लोकगीतो मे भी चित्रित नही हुई है। बरसात है तो गहने है, बाजूबन्द है, साळू है, हाथीदांत का चुडला है, पनडी वाला सोने का तेवटिया है, मखमल की जूतियाँ है। और बरसात नही तो कुछ भी नही। जब बरसात ने अपने हाथो से धरती को शृगार नही करवाया है तो फिर भला किसान-स्त्री भी अपने देह को कैसे सँवारे ? किस तरह सँवारे ?

'बारहमासा' गीत मे, साल के बारह महीनो का वर्णन है। शहर के बारह महीने नहीं, गाँव के बारह महीने। हर महीने मे 'साई' की किसी कुदरत का बखान किया गया है। साल का आरम्भ भी बरसात की मौसम को माना गया है। 'असाढ का महीना—बिरखा लगी। बाजरियाँ बोने का समय आ गया। माँ, खेत पर भाता [खाना] ला रही है। वाह रे साई वाह ! क्या ही उम्दा मौसम है। सावन का महीना—बाजरी उग आई। खेत मे निदाण हो रहा है। काचर-मतीरो की बेलो को चतुराई के साथ टाला जा रहा है। वाह रे साई वाह ! भादो का महीना—मीठे मतीरे। मीठी ककडियाँ। बाजरी के मीठे सोगरे। वाह रे साई वाह ! आसोज का महीना—धान पकने आया। आसा लगी। खेतो की रखवाली की जा रही है। हरशाला का शोर सुनाई दे रहा है। रात को खेत मे ही रहना होगा। वाह रे साई वाह ! काती का महीना—मिट्टो की भरमार। बे सुमार फूस। जितना भावे, उतना खाओ।

धान मोगी में दानों की तरह पक गया। वाह रे साईं वाह! मिगसर का महीना—सटाई के दिन। महाजन अपनी बही-खाते लेकर हिसाब चुकता कर जायेगा। लेन्दे कर कर्ज से फारिग हो जायेंगे। वाह रे साईं वाह! पोष का महीना—खालड़ी को कँपाने वाली भयंकर सर्दी। माघ का महीना। पाला पड़ने लगा। पानी सब जम कर पत्थर हो गया। वाह रे साईं वाह! फागुन—गोपियों के साथ रसिक भगवान् फाग खेल रहे हैं। मटूटे में मद की चुस्कियाँ उड़ रही हैं। सर्वत्र उन्माद। सर्वत्र उत्साह। वाह रे साईं वाह! चैत्र—चम्पा महक उठा है। मोर चंचल हो रहे हैं। बरसात नहीं और वृक्षों से हरियाली फूट पड़ रही है। वाह रे साईं वाह! वैसाख—कड़ाके की गरमी। चमचमाती धूप। पड़वों मे सोये रहेंगे। छाया मे आराम करेंगे। वाह रे साईं वाह! जेठ की गरमी। और भी कड़ाके की धूप पड़ेगी। सारा शरीर तावड़े से झुलस उठेगा। खेजड़ी पर चढ़कर खोखे खायेंगे। मीठे और स्वादिष्ट खोखे। वाह रे साईं वाह!' यह राजस्थान के किसानों का 'बारहमासा' है। साल समाप्त हुआ—फिर वही बारहमासा। दूसरा साल समाप्त हुआ—फिर वही बारह-मासा। लोक-जीवन प्रकृति से कुछ दूर रह कर उसे देखने की कोशिश नहीं करता। प्रकृति स्वयं उसकी दिनचर्या के ही अन्तर्गत आती है। लोक-गीतों मे सामूहिक दिनचर्या के ही बोल मुखरित होते है। गीतों के इस सामूहिक तत्व को समझे बिना, इनके मर्म को समझा ही नहीं जा सकता।

गाँवों मे नन्हें-नन्हें बच्चे भी बरसात के समय नंग धड़ंग होकर नाचते, उछलते और गाते हैं—'मेह बाबा आजा, घी नै रोटी खाजा। आयो बाबो परदेसी, खेळी-कोठा भर देसी।'

वायु, बरसात, बादल, बिजली और गर्जन आदि के साथ 'जीवन-आवश्य-कता' के अन्यथा लोकगीतों मे कुछ रागात्मक सम्बन्ध भी व्यक्त हुए हैं, जिनमे मानवीय प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं को दर्शाया गया है। सावन के महीने मे तीज के अवसर पर, नव-विवाहिता को अपने पीहर की याद आती है। भाई की याद आती है। बरसात के उपमान उसकी स्मृति को उत्तेजित करते हैं। सावन की झड़ देख कर, भाई को अपनी बहिन की याद आती है। लेकिन लोकगीतों मे दाम्पत्य प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण अन्य रागात्मक सम्बन्धों की अपेक्षा अधिक हुआ है। बरसात के उपमान—बादल, काळी कळायण, काठळ, बिजली आदि को देखने से कालिदास की अमर कल्पना

'मेघदूत'—सभी मानव-हृदयो मे साकार हो उठती है। पुरुष के भीतर सोया हुआ यक्ष, अपनी प्रियतमा की याद मे विकल हो उठता है। और नारी के भीतर सोई हुई यक्षिणी, अपने प्रियतम की याद मे अकुला उठती है। ये उपमान, प्रेम भावना को सहज ही उद्दीप्त कर देते है। फिर भी लोकगीतो मे, व्यक्ति के विकृत मनोविकारो को ननिक भी प्रश्रय नही मिला है। उनमे सामूहिक प्रेम-भावना के औसत उद्वेगो को ही स्वाभाविक व्यजना मिली है।

पति परदेश गया हुआ है। सामने पर्वत पर बिजलियाँ एक के बाद एक चमक रही है। काली घटाओ के भीतर, झलमलाती हुई बिजलियो ने पत्नि की आँखो से उसके अन्तर्मन मे प्रवेश करके, प्रियतम की याद को जगा दिया। इस विवश अवस्था मे भी प्यार की मधुर आशा, एक समाधान खोजती है—'प्रियतम ! मैं इस डूँगर पर ही अपना घर बनालूँ। बादल मेरे इस घर के किवाड होगे। बिजली के झरोखो से मैं तुम्हारे आने की राह देखूँगी।' व्यक्ति से समूह अधिक ताकतवर है। इसलिए सामूहिक उदभावना मे वैयक्तिक कल्पना से बहुत अधिक शक्ति होती है। सामूहिक उद्गारो की सहज व्यजना भी जिस काव्यात्मक ऊँचाई तक पहुँच जाती है—उस तक पहुँच जाना, व्यक्ति की कल्पना के वश का रोग नही है।

दाम्पत्य जीवन का अतुलनीय सवाद देखिए—पत्नि, नौकरी के लिए परदेश जाते हुए पति को कहती है—'न रुकना चाहते हो तो न रुको। खुशी-खुशी जाओ, पर एक काम तो मेरा भी कर दो। आभे मे चमकती हुई इन बिजलियो को जरा समझा दो कि वियोग की अवधि मे ये न चमके। पति उत्तर देता है कि यह उसके वश की बात नही। सावन-भादो मे चमकना तो बिजलियो का स्वभाव है। वे तो जरूर चमकेंगी। पत्नि कहती है—तो फिर वन के इन दुष्ट मोरियो को मना करते जाओ कि तुम्हारे जाने पर वे मुझे बोल-बोल कर न सतायें। पति फिर विवशता प्रकट करता है कि बोलने की ऋतु आने पर ये तो बोलेंगे। इन पर किसी का हुक्म नही चल सकता। ऋतु आने पर कोयल बोलेगी। मोर बोलेगा। पत्नि और हठ करती है—भले आदमी ! पडोसिन को तो मना कर दो कि वह अपनी मेडी मे दिया न सजोये। पति इस बात के लिए भी लाचार है। उसका कहना है कि पडोसिन का पति घर पर है—वह तो दिया जलायेगी ही। अन्त मे पत्नि अपने हृदयहीन पति से अंतिम प्रार्थना करती है कि दूर जाने से पहिले वह उसे एक जहर का प्याला ही देता

जाय। वह ! पति उसका भी जवाब देता है कि जहर तो दुश्मन को दिया जाता है। तुम मेरी प्रियतमा हो, तुम्हें तो बच्चे दूध का प्याला भर कर दूंगा।' मानव-जीवन का समूचा यथार्थ, जैसे इन पंक्तियों में आकर सिमट गया हो। जिन्दगी के संघर्ष को, जहर पीकर समाप्त नहीं करना। ताजे दूध के प्याले पीकर, उसका सामना करने की शक्ति एकत्रित करनी है। पति नौकरी [कर्तव्य] पर जायेगा। काली घटाएँ उमड़ेंगी। बिजलियाँ चमकेंगी। मोर बोलेंगे। कोयल बोलेगी। और पत्नि को इन सबके बीच अपने पति का विछोह का सामना करते हुए जिन्दगी के यथार्थ को ग्रहण करना होगा। मानव-समाज को लोकगीतों का यही संदेश है कि प्रेम का अन्त मौत नहीं, जिंदगी है। जीवन से बढ़ कर इस दुनिया में और कुछ भी सुन्दर नहीं है।

अप्रैल, १९५६

सूरज चांद और तारे

सूर्य वेदो का एक विशेष देव है। सारी दुनिया को प्रकाश देता है। वह[1] अधकार का नाशक है। वह[2] व्याधियो को हरने वाला और दुस्वप्नो को भग करने वाला है। राजस्थानी[3] लोक गीतो मे भी वह इतनी ही महत्ता के साथ स्वीकार किया गया है। यह कोई कम आश्चर्य की बात नही है कि सूर्य रोज अपने समय पर उदित होता है और रोज अपने समय पर अस्त होता है। इस क्रम मे कभी नागा नही होती। कभी ढील नही होती। लोक जीवन रोज अपनी खुली आँखो से देखता है कि अधकार के अपरिसीम विशाल काले पर्दे को सूरज अपनी किरणो से एक क्षण भर मे चीर डालता है, सर्वथा विच्छिन्न कर देता है—जैसे पलक उठते गिरते ही कोई जादू घटित हो गया हो। अनगिनत तारे, देखते-देखते लुप्त हो जाते हैं। अधकार इस हिसाब स अदृश्य होता है कि दिखलाई तक नही पडता। काम से हारी थकी दुनिया, फिर स नया जीवन लेकर जाग उठती है। पशु जागते हैं। पक्षी जागते हैं। सारी प्रकृति मे नई चेतना उभर आती है। सूरज के प्रकाश की मानो कोई सीमा नही है। कोई गिनती नही है। हर मनुष्य अपने काम मे उलझ पडता है। सूर्य के उदय होने पर, सारी दुनिया मे, अगणित कामो की हलचल मच जाता है। कामो का एक अनत तूफान खडा हो जाता है। मनुष्य की मेहनत का भी सूर्य के समान तेज है। सूरज के समान ही वह भी प्रणावान है।

किसान के लिए, सूरज केवल उसे काम करने की चेतना मात्र ही प्रदान

---

१ ऋगवेद ७/६३/१. २ वही १०/३७/४. ३ वही १०/३७/४

नहीं करता, बल्कि उसकी जिन्दगी से उसका अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। सूरज के प्रकाश में वह अपने खेत पर काम करता है। उसकी गर्मी से उसकी खेती पकती है। उसका धान पकता है। पशुओं के लिये चारा उगता है। सूरज की गरमी किसान के मन में बादलों की आशा जगाती है। बादलों का निर्माण करती है। वर्षा की बौछार करती है। प्रकाश की अपेक्षा सूरज की गरमी, किसान की जिन्दगी के लिए अधिक उपयोगी है। अधिक सार्थक है। राजस्थानी लोक गीतों में अपनी महत्ता के अनुरूप, सूर्य नारायण का बड़ा सुन्दर चित्रण भी हुआ है--

धोळा-धोळा काई करो थे धोळा वन में कपास
धोळो सूरजजी रो घोड़लो थे, धोळा बहू रैणादे रा दांत
ऊगतो उजास-बरणो, आथमतो सिंदूर-बरणो
गऊ थे चरण चाली, पछीड़ा मारग चाल्या
नेम-धरम सब साध
सहेल्या, बाबल घर बाज्या ढोल
सहेल्या, सुसरैजी घर आणद-उछाव

रातो-रातो काई करो थे, राती चुडलै री मजीठ
रातो सूरजजी रो घोड़लो थे, राता बहू रैणादे रा नैण
ऊगतो उजास-बरणो, आथमतो सिंदूर-बरणो
गऊ थे चरण चाली, पछीड़ा मारग चाल्या
नेम-धरम सब साध
सहेल्या, बाबल घर बाज्या ढोल
सहेल्या, सुसरैजी घर आणद-उछाव

काळो-काळो काई करो थे, काळा वन रा तो काग
काळो सूरजजी रो घोड़लो थे, काळा बहू रैणादे रा केस
ऊगतो उजास-बरणो आथमतो सिंदूर-बरणो
गऊ थे चरण चाली, पछीड़ा मारग चाल्या
नेम धरम सब साध
सहेल्या, बाबल घर बाज्या ढोल
सहेल्यां, सुसरैजी घर आणद-उछाव

पीळी-पीळी काई करो श्रे, पीळी श्रो चिरणा के री दाळ
पीळो सूरजजी रो घोडलो श्रे, पीळो वहू रँणादे री चीर
ऊगतो उजास-वरणो, श्राथमतो सिंदूर-वरणो
गऊ श्रे चरण चाली, पछीडा मारग चाल्या
नेम-धरम सब साथ
सहेल्या, बावल घर बाज्या ढोल
सहेल्या, सुसरँजी घर श्राणद-उछाव

हरियो-हरियो काई करो श्रे, हरी श्रे वन मे तो दूब
हरियो सूरजजी रो घोडलो श्रे, हरी वहू रँणादे री कूख
उगतो उजास-वरणो, श्राथमतो सिंदूर-वरणो
गऊ श्रे चरण चाली, पछीडा मारग चाल्या
नेम-धरम सब साथ
सहेल्या, बावल घर बाज्या ढोल
सहेल्या सुसरँजी घर श्राणद-उछाव।

वेदो मे सूर्य के पास सात घोडो से सुसज्जित एक रथ माना गया है।[1] ये सातो घोडे विभिन्न रग के है श्रौर वे सूर्य की किरणों ही का प्रतिनिधित्व करते है।[2] प्रमुख रग भी ये सात ही हैं। सूर्य की किरणो मे ये सातो रग सन्निहित हैं। इन सात रगो के समिश्रण ही से श्रन्य सभी प्रकार के रग बनते है। इन प्राकृतिक रगो से ही प्राणी-मात्र का जीवन सभव है। ज्ञात-श्रज्ञात रूप से प्राणी-जगत इन रगो के बीच बँधा हुश्रा है। यदि पृथ्वी पर हरियाली न हो तो प्राण ही सम्भव नही है। इस गीत मे सूर्य के उगने का ऐसा सहज वर्णन है कि रात के समय भी पढ़ने पर लगता है, मानो सूरज बस श्रभी-श्रभी उगने ही वाला है। 'गउएँ चरने के लिये निकल पड़ी। पक्षी श्रपनी राह उडने लगे। श्रपना धरम श्रपने साथ है। श्रपना नेम श्रपने साथ है।' गीत मे एक विशेष बात श्रौर भी है कि पृथ्वी की सारी रगीनियो का श्राधारास्थल सूर्य ही को माना गया है। इस दुनिया मे हरा, काला, पीला, नीला, सफेद, लाल, जो कुछ भी है, यह सूरज की वजह से ही है। सूरज के साथ-साथ उसकी पत्नि 'रँणादे'

---

१ ऋगवेद ५/४५/६. २ ऋगवेद ८/६१/१६

प्रजनन का देव भी माना गया है। राजस्थानी लोक गीतो मे पुत्र-प्राप्ति के लिए सूर्य-भगवान् की अर्चना भी है—बेटी, अपनी माँ को पुत्र न होने के कारण, दुख प्रकट करते हुए कहती है कि 'इस जिन्दगी से तो मर जाना ही बेहतर है। माँ ढाढस देती है—बेटी तू नोज मरे। सूरज भगवान तेरी विनती अवश्य सुनेंगे।' श्रौर सूरज-नारायण उसकी विनती सुनते भी हैं। यह आदिम-विश्वास, जिन्दगी के प्रति आस्था बनाये रखता है। कर्म-संघर्ष से लोक-जीवन को विमुख नही होने देता।

राजस्थानी गीतो मे, सूर्य को तेज, शौर्य, शक्ति श्रौर प्रकाश का प्रतीक माना गया है। श्रौर चन्द्रमा को सुकोमलता श्रौर सौन्दर्य का। तारे, किरत्या श्रौर हिरणाचा आदि को भी सुन्दरता के प्रतीक-रूपो मे ग्रहण किया गया है।

दळ वादळ बीच चमक्कै जी तारा
साझ समै पिव लागै जी प्यारा

श्रौर 'बीदणी' को उसके सौन्दर्य की सराहना करते समय, उसे 'चन्दा वदणी घर नार' कहने के सिवाय कोई चारा ही नही है। दूल्हे के पौरुष का तेज बखानने के लिए उसे 'सूरजमल' कह कर संबोधित किया जाता है। सभी माता-पिताओ को, अपनी पुत्री के लिए 'सरद पूनम के चाँद' जैसा श्रौर 'ऊगते सूरज के तेज' जैसा वर खोजने की कामना बनी रहती है। बीदणी' की सखियाँ उसके घूंघट मे छिपे हुए मुख की सुन्दरता व उसके तेज का बखान श्रौर क्या करें कि आकाश मे तो एक सूरज है—पर 'बनडी' के 'घूंघट' मे तो एक साथ सोलह सूरज उगे हैं। बेचारा अकेला सूरज बनडी के मुख पर जडे सोलह सूरजो का क्या मुकाबला करे? कैसे मुकाबला करे?

चाँद की शीतलता, विरहिणी के हृदय को जलाती है। तारो की झिल-मिलाहट, चिनगारियो का काम करती है—

चादडलो गयो भवरजी गढ गिगनार श्रो रसीला
कोई किरत्या तो झुक आई रै गढ रै कागरै

विरहिणी चाँद को सह नही सकती। एक आँख भी सह नही सकती। खीझ-भरी निगाह से उसकी श्रोर देख कर कहती है—'पापी कहीं का। खुद जल रहा है श्रौर मुझे भी जला रहा है। बताती रे दुष्ट, मैने तेरा क्या बिगाडा है? अपनी आग को लेकर, बादळी की श्रोट मे छिप क्यो नही जाता? मै तो अपनी

ही आँच में गिरी चली जा रही हूँ। उस पर तेरी यह चाँदनी! तेरा यह उजास! प्रियतम की याद ही मेरे लिए काफी है। यदि तू अपनी आँच से मुझे और दझायेगा तो तुझे राम-दुहाई है। तू बादली की ओट में जितना जल्दी छिप सके, छिप जा।'

चाँद का निरंतर घटना-बढ़ना भी गीतों का एक खास विषय रहा है। एक विधवा, खंडित चद्रमा से अपने जीवन की तुलना करते हुए कहती है—'मेरे भाग्य को तो 'करतार' ने खंडित किया, पर ओ रे अभागे चन्दा! तुम्हें किसने खंडित किया? पर कुछ भी हो मैं तुमसे भी अधिक बदनसीब हूँ। तुमको तो पूनम के दिन फिर पूरा आकार मिल जायेगा पर मेरे खंडित भाग्य के लिए तो अब कोई चारा ही नही है।'

'तारा छाई रात' और 'किरत्यो के ढलने' का प्रयोग तो गीतों मे कई कई बार हुआ है। और जब भी हुआ—मानो गीतो के शब्दों मे चमकते मोती ही जड दिये गये हो।

लोक-जीवन ने सूरज, चांद, चांदनी, तारे, किरत्यो को प्रेम के समय निर्मल उन्माद और प्यार-भरी निगाहों से देखा है। चाँद के उजास मे प्रियतम, प्रियतमा की स्मृतियो को बाँचा है। इनको अपने जीवन मे उतारा है। इनके साथ खेल-कूद किया है, हँसी-दिल्लगी की है। विरह के क्षणो मे इन उपमानो के प्रति रोष भी प्रगट किया है। खीझ प्रकट की है। जी भर कर इन्हें कोसा भी है। लेकिन यह सब कुछ होते हुए भी सूरज, चाँद और किरत्यो के साथ लोक-जीवन का यही सम्पूर्ण परिचय नही है। जरूरत पडने पर जिन्दगी के आवश्यक क्षणों मे उसने सूरज को सूरज से अधिक नही समझा। चाँद को चाँद से भिन्न कुछ भी नहीं समझा। तारा को तारा के अन्यथा और किसी भी रूप मे मजूर नही किया। स्वच्छ भावुकता का पर्दा हटा कर, उसने उन्हे एक वैज्ञानिक की तरह अपने जीवन मे अपनाया है। उसी रूप मे उनका उपयोग भी किया है। 'सावन के महीने मे टकटकी लगा कर गाँव का किसान इसलिए असख्य तारो के बीच केवल 'शुक्र तारे' को खोजने की चेष्टा करता है कि यदि वह दिखलाई न दिया तो प्रान्त मे 'अकाल' पडेगा। 'अगस्त्य तारे का उगना, उसके लिए वर्षा की समाप्ति का सूचक है।' सावन और आसाढ की द्वितीया को चद्रमा के दर्शन करने को वह इसलिए उत्सुक होता है कि सावन मे उसे सोता हुआ और आषाढ़ मे खडा हुआ चन्द्रमा दिखलाई पडे, क्योंकि वह इसे अच्छी बरसात

का सूचक मानता है। मघा नक्षत्र में, सब-कुछ भुला कर उसे केवल यही जानने की जिज्ञासा बनी रहती है कि सूर्य मघा के पीछे रहता है या आगे ? क्योंकि वह पीढ़ियों से अनुभव करता आ रहा है कि—आगे मग्घा पीछे भाए, वर्षा हावै ओस समान ! प्रकृति के इन उपमानों के साथ, किसान का बोध केवल आँखों तक ही सीमित नहीं है। इनके साथ उसकी सम्पूर्ण जिन्दगी की गहरी मिलता है। सूरज, चाँद और तारे उसके जीवन से बिलकुल दूर नहीं हैं। वह सूरज को छू सकता है। चाँद को हाथ लगा सकता है। तारों को अपनी मुट्ठियों में बीन कर इकट्ठा कर सकता है।

अप्रैल १९५६.

खेत अच्छ और हरियाली

रस्किन का एक कथन है—'वह विचार भी ईश्वर का कितना महान् था, जब उसने वृक्ष की कल्पना की।' बिलकुल ठीक। कोई अतिशयोक्ति नहीं। लेकिन स्वयं रस्किन का वह विचार भी इससे कोई कम महान् नहीं था, जिस समय उसने इस वाक्य की रचना की। पर हम शहर के बाबू लोग, कुछ इधर-उधर की पढाई-लिखाई करने के बाद, इन वृक्षों और हरियाली को देख कर 'उपेक्षा के साथ कह दिया करते हैं—हुँ, ये जीते नहीं, पनपते है। अपने आप उगते रहते हैं और नष्ट होते रहते हैं'[1]। अज्ञानी और मूर्ख बने रहने की विद्या में उन्मत्त बावले—यह हम उन लोगों का कहना है जो अपने प्रयत्न से 'खाते-पीते हैं, सोते हैं, आलस के साथ काम करते हैं, समय बिताने के लिए पढ़ते हैं और अनजाने में बूढ़े होते रहते हैं। जिनको अपनी नाक के परे कुछ भी नहीं दिखता।'[2] किन्तु दरअसल सच्चाई यह है कि 'छोटे में छोटा हरा पान भी, इस दुनिया की सबसे महत्वपूर्ण और एक रहस्यात्मक रसायनशाला है। हर घड़ी और हर पल सूरज की वह किरण, जो हरे पत्ते को छूती है—उसके स्पर्श में रसायन-शास्त्री का एक बड़ा जबरदस्त सपना, अपने वास्तविक रूप में घटित हो जाता है। वह सपना है—जीव का एक निर्जीव पदार्थ में से निर्माण। केवल हरे पौधे के लिए ही यह सम्भव है कि वह निर्जीव पदार्थ से जीव की सृष्टि कर सके।'[3] 'सूर्य की अपार जीवन-शक्ति, हरियाली के माध्यम से ही इस पृथ्वी पर प्रवेश करती है। पृथ्वी पर प्राण का सचरण, सूर्य की शक्ति से ही होता है। यदि पृथ्वी पर

---

१ लैण्ड इन ब्लूम—ड्री. सर्पानाव १५. २ वही २३. ३ वही २५

म्हारे ग्रागरण ग्राम, पिछोकडे मरवौ
ग्रो घर सदा ग्रे सुहावणो ।

ग्राँगन मे केवडे की हरियाली है। इसीसे घर की शोभा है। इसी से घर मे सुख-शाति है। सौन्दर्य है। हरे केवडे के ग्रस्तित्व से घर का चौक शुभ हो गया है। घर की बारियाँ शुभ हो गई है। घर के दरवाजे शुभ हो गये है। उस केवडे के पास बाल-गोपाल खेल रहा है। पृथ्वी के वैभव को देखने के लिए केवल दो ही तो आँखें है। एक ग्राँख मे बाल-गोपाल समा गया है। दूसरी ग्राँख मे केवडे की हरियाली समा गई है। इनके ग्रन्यथा कुछ ग्रौर देखने के लिए न कोई तीसरी चीज है ग्रौर न कोई तीसरी ग्राँख ही है।

म्हारे चानरण चौक सुहावणो
ज्या मे खेलें ग्रे भतीजो नन्दलाल
ग्रागरण ऊभो केवडो
म्हारे बाबोजी री पोळ सुपोळ
ग्रागरण ऊभो केवडो

जिस प्रकार पानी मे हरियाली ग्रौर हरियाली मे पानी है, उसी प्रकार ग्रबोध शिशु मे हरियाली के दर्शन होते है ग्रौर हरियाली मे शिशु की पवित्रता साफ दिखलाई पडती है। माँ की कोख मे ही सारा मानव परिवार बसता है, उसीसे उसकी सृष्टि है। प्रकृति की कोख मे हरियाली बसती है ग्रौर हरियाली ही सब प्रकार के जीवो की सृष्टि है। इस मर्म को लोक-जीवन ने ही सबस ग्रधिक समझा है। कोख की उपमा के लिए उसे हरियाली के ग्रतिरिक्त कोई दूसरा उपमान सूझता ही नही। कोई जँचता ही नही—

हरी बहू रँगादे री कूख

हरियाली मे कोख ग्रतर्निहित है ग्रौर कोख मे हरियाली। हरियाली सृजन का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है। लेकिन लोक-रुचि इससे भी दो कदम ग्रागे बढ गई। उसने सृजन के प्रतीक रूप मे ही हरियाली को मान्यता नही दी, बल्कि उसने सृजन-सम्बन्धी ग्रधिकांश भावनाग्रो को हरियाली ही का रूप दे दिया। वह केवल हरियाली की बात करता है—ग्रौर उसमे सृजन की समूची व्यापकता स्पष्ट हो जाती है। वह केवल वृक्षों की बात करता है—ग्रौर उसमे परिवार की सारी बातें स्पष्ट हो जाती हैं। वह परिवार के स्थान पर ग्राम, ग्रमली, नीबू,

हरियाली नही होती तो यह दुनिया ही नहीं बसती। यहाँ जीव ही पैदा नही होता।'[1] केवल इतना ही नही, 'हरे जगत के इस अद्‌भुत और विशाल रसोई-घर ही से हम सभी प्राणियो को भोजन मिलता है। साँस के लिए ताजी हवा मिलती है।[2]

मनुष्य की उस आदिम असहाय अवस्था मे, हरियाली ने ठीक माँ के समान उसका पालन-पोषण किया था। मानव-समाज का वह आदिम शैशव पूर्ण रूप से अपनी 'धरती माँ' पर ही निर्भर था। माँ हरियाली उसे खाने को फल-फूल देती थी। खराब मौसम से उसको बचाती थी। आदिम मानव को खाने योग्य पशुओ का शिकार, इस हरे जगल ही से मिला करता था। बचपन के दिनो मे पाल-पोस कर, माँ हरियाली ने मनुष्य को योग्य बनाया। उसे अपनी मेहनत द्वारा जीना सिखाया। यही कोई दस हजार साल पहिले, आदिम मानव ने माँ धरती की गोदी छोड कर, अपने बूते पर जीना आरम्भ किया था। प्रकृति के द्वारा उसी हरियाली के आसरे से ऊपर उठ कर, उसने अपने हाथों से, अपनी जरूरत के मुताबिक हरियाली निपजाना सीख लिया था। यह कोई बहुत पुरानी कहानी नही है। सिर्फ दस हजार वर्ष पहिले ही की बात है। मनुष्य की अपनी मेहनत द्वारा निर्मित हरियाली के उस पहिले पौधे से बढ कर कोई दूसरी कला नही है। कोई दूसरा विज्ञान नही है। आश्रित का दर्जा त्याग कर, तब वह पहिले-पहिले स्वय सृष्टिकर्ता बना था।

लोक जीवन आज दिन भी माँ हरियाली के स्नेह और प्यार को भूला नही है। वह अब भी उसीका पूत है। माँ की ममता को पहिचानता है। पुत्र के कर्तव्य को पहिचानता है। गुठली की जगह हरे पौधे के उगते अकुर को देख कर वह उसे दूध-मलाई से सीचने की लालसा प्रकट करता है। लोक-जीवन थोथे आडम्बर मे सुख खोजने की व्यर्थ चेष्टा नही करता। हरियाली से बढ कर अन्य कोई भी भौतिक तत्व उसे सुख प्रदान नही कर सकता। उसके लिए न अपार धन सुख का प्रतीक है और न कोई ऊँचा पद ही उसे सुख पहुँचाने की क्षमता रखता है। वह तो निशक भाव से कहता है—मेरे आँगन मे और पिछवाड मरवा है। इससे अधिक मुझे सुख और क्या चाहिए? इस हरियाली के कारण मेरा घर सदा सुहावना है—

---

१ लैण्ड इन ब्लूम—रही सार्फोनोव २४ २ वही २७

म्हारे ग्रागरण ग्राम, पिछोक्डे मरवौ
ग्रौ घर सदा ग्रे सुहावरणौ ।

ग्राँगन मे केवडे की हरियाली है। इसीसे घर की शोभा है। इसी से घर मे सुख-शाति है। सौन्दर्य है। हरे केवडे के ग्रस्तित्व से घर का चौक शुभ हो गया है। घर की बारियाँ शुभ हो गई हैं। घर के दरवाजे शुभ हो गये है। उस केवडे के पास बाल-गोपाल खेल रहा है। पृथ्वी के वैभव को देखने के लिए केवल दो ही तो आँखें हैं। एक ग्राँख मे बाल-गोपाल समा गया है। दूसरी ग्राँख मे केवडे की हरियाली समा गई है। इनके ग्रन्यथा कुछ ग्रौर देखने के लिए न कोई तीसरी चीज है ग्रौर न कोई तीसरी ग्राँख ही है।

म्हारे चानरण चौक सुहावरणौ
ज्या मे खेलै ग्रे भतीजौ नन्दलाल
ग्रागरण ऊभौ केवडो
म्हारे बाबोजी री पोळ सुपोळ
ग्रागरण ऊभौ केवडो

जिस प्रकार पानी मे हरियाली ग्रौर हरियाली मे पानी है, उसी प्रकार ग्रबोध शिशु मे हरियाली के दर्शन होते है ग्रौर हरियाली मे शिशु की पवित्रता साफ दिखलाई पडती है। माँ की कोख मे ही सारा मानव-परिवार बसता है, उसीसे उसकी सृष्टि है। प्रकृति की कोख मे हरियाली बसती है ग्रौर हरियाली ही सब प्रकार के जीवो की सृष्टि है। इस मर्म को लोक-जीवन ने ही सबसे ग्रधिक समझा है। कोख की उपमा के लिए उसे हरियाली के ग्रतिरिक्त कोई दूसरा उपमान सूझता ही नहीं। कोई जँचता ही नही—

हरी यहू रैंगादे री कूख

हरियाली मे कोख ग्रतर्निहित है ग्रौर कोख मे हरियाली। हरियाली सृजन का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है। लेकिन लोक-रुचि इससे भी दो कदम ग्रागे बढ गई। उसने सृजन के प्रतीक रूप मे ही हरियाली को मान्यता नही दी, बल्कि उसने सृजन-सम्बन्धी ग्रधिकाश भावनाग्रो को हरियाली ही का रूप दे दिया। वह केवल हरियाली की बात करता है—ग्रौर उसमे सृजन की समूची व्यापकता स्पष्ट हो जाती है। वह केवल वृक्षो की बात करता है—ग्रौर उससे परिवार की सारी बातें स्पष्ट हो जाती है। वह परिवार के स्थान पर ग्राम, ग्रमली, नींबू,

नीम, पीपल, वड, वबूल ये ही फलने-फूलने और पसरने की बात करता है और इन वृक्षों मे परिवार के सभी सगे-सम्बन्धी—माँ, बाप, भाई, भौजाई, देवर, बहू, जेठ, ननद इत्यादि—साकार हो उठते है। वह परिवार की बात करता है तो उसमे वृक्षों की हरियाली स्वयमेव चित्रित हो जाती है।

मधुवन रो ग्रे ग्राबो मोरियो
ग्रो तो पसरयो ग्रे सारी मारवाड
*
ग्राज म्हारी ग्रमली फळ रही जी
*
ऊगी नीमडली घहर-घुमेर, मारूजी
फैली सौ कोसा मे, जी म्हारा राज
*
ऊग्यो नीवू पान-दु-पान, वारी घण वारी ग्रो हजा
ऊगतडे जुग मोयो ग्रो गोरी सायबो, जी राज
*
मरवे री जड ऊडी पाताळ मे ग्रे
हे के मोटो, वारा रे कोसा मे मरवो भुक रह्यो ग्रे
*
नीवूडे री जड गयी रे पताळ, ग्रो था पर वारी रे सइया
सोवा ने कोसा पर नीवू फलियो, ग्रो राज
*
बावळिया, कितरा बीघा मे थारो पेड ?
बावळिया, कितरा बीघा मे थारी छावळी ?
*
गोरी ग्रे, वारे बीघा मे म्हारो पेड
सोळे बीघा मे म्हारी छावळी

उधर मधुवन का ग्राम बौरा गया है। हरा-भरा। फला फूला। ग्रौर वह फैला तो इतना फैला कि सारे मारवाड ही मे पसर गया। इधर ग्रमली फल रही है। फैल रही है। उधर घहर-घुमेर नीमडी झूम रही है। सौ-सौ कोसो मे फैल गई है। इधर नन्हा सा नीबू उग ग्राया है। ग्रभी तक सिर्फ पान-दो पान ही ग्रकुरित हुए हैं। फिर भी उसने उगते ही सारे जुग को मोह डाला। देखते-देखते उसकी जडें पाताल तक गहरी चली गई। वह सौ सौ कोसों मे फैल

गया। उधर मरवे का छोटा-सा पौधा भी पाताल मे ऊँडी अपनी जडें फैला रहा है। वारह वारह कोसो तक उसकी डालियाँ झुक गई है। उधर बबूल का पेड भी बारह बीघो मे छाया हुआ है। और छय्या उसकी सोलह बीघो तक फैली हुई है। सब तरफ हरियाली ही हरियाली। सब तरफ जीवन ही जीवन। सब तरफ फलना ही फलना। फूलना ही फूलना। सर्वत्र आनन्द। सर्वत्र उत्साह और आशा। लगता है, मानव-समाज के समस्त परिवार ही वृक्षो की हरियाली मे समाहित हो गये हैं। वृक्ष परिवार का प्रतीक न रह कर, स्वय परिवार ही वृक्ष का प्रतीक बन गया है।

हे म्हारे उत्तर-दिखण री ग्रे, जच्चा पीपळी
हे म्हारे पूरव नमी-नमी डाळ रे
हे म्हाने घणी ग्रे सुहावै, जच्चा पीपळी !

हे थारे गीगो ग्रे जलमियो आधी रात ग्र
हे थारे गुळ वेंच्यो परभात
हे म्हाने घणी ग्रे सुहावै जच्चा पीपळी !

'जच्चा' और 'पीपळी' इन दो के पारस्परिक सयोग ने, वस्तु तथ्य मे इसी सीमा तक गुणात्मक-परिवर्तन ला दिया है कि बस उसका अनुमान ही नही लगाया जा सकता। 'पीपळी' के पहिले 'जच्चा' शब्द आने से ऐसा लगता है कि जैसे स्वय पीपल के वृक्ष ही ने 'जच्चा रानी' का रूप धारण कर लिया हो। और 'जच्चा' के बाद 'पीपळी' शब्द के जुडने से ऐसा लगता है कि मानो 'जच्चा रानी' एकदम से पीपल के वृक्ष ही मे बदल गई हो! आधी रात के समय गीगे को जन्म देने वाली 'जच्चा पीपळी' हमे बहुत सुहाती है। परभात के समय गुड बँटेगा। बधाइयाँ मनाई जायेंगी।' क्योकि जच्चा-पीपळी' ने नये इन्सान को जन्म दिया है!

बावळिया, कुण रे लगायो थारो पेड ?
बावळिया, कुण रे सपूतो थाने सींचियो ?
गोरी ग्रे, गुमरंजी लगायो म्हारो पेड !
सासू सपूतो म्हाने सींचियो, गोरी ग्र !
बावळिया, कुण रे बैठेगो थारी छाय ?
बावळिया, कुण रे सपूतो काने बातणो ?

गोरी अे, गुणरोजी पेंठला म्हांरी टाव !
गागू सपूतो माते कामणो, गोरी अे !

बावळिया, कुण रै सरीसो थारो फूल ?
बावळिया, कुण रै सरीसी थारी पापड़ी ?
गोरी अे, सोने सरीसो म्हारो फूल !
रूपे सरीसी म्हारी पापड़ी, गोरी अे !

बावळिया, कठै रै मेलूलो थारो फूल ?
बावळिया, कठै रै मेलूली थारी पापड़ी ?
गोरी अे, पेया मे मेलो म्हारो फूल !
डाबा मे मेलो म्हारी पापड़ी, गोरी अे !

बबूल के पीले फूल, रेत मे पड़े रह कर बिखर जाने के लिए नही हैं। उसकी फलियाँ [पपड़ियाँ] पाँवो के नीचे कुचली जाकर टूटने के लिए नही हैं। सोने सरीसे फूलो को घर मे हिफाजत से सजो कर उन्हे पेटियो मे सुरक्षित रखो। रूपै सरीसी फलियो को घर मे हिफाजत से सजो कर डिबियो मे सुरक्षित रखो। यदि इनकी उपेक्षा करती गई तो समाज का विकास ही रुक जायेगा। समाज की प्रगति मे अवरोध पैदा हो जायेगा। परिवार की कमजोरी सारे समाज को कमजोर बना डालेगी। लोक दृष्टि, परिवार को बहुत ही पवित्र व सम्मानित रूप मे ग्रहण करती है। वह परिवार के वृक्ष को दूध-मलाई स सीचने की कामना रखती है। और—

मोंखणियों री पाळ बधावो, मारूजी !
नीमलड़ी सिंचावो काचा दूध सू !
*
गुळ घी बधावो नीबूड़ा री पाळ !
दूधा सिंचावो हरिये रूख नै !
मत कोई तोड़ै, नीबूड़ा रा पान !
कोई मत ना सतावो हरिये रूख नै !

जो कोई नीम के पान तोड़ेगा, वह सजा पायेगा। इस हरे रूख को जो कोई भी सतायेगा, उसको किसी भी प्रकार क्षमा नही मिलेगी। जो कोई भी इसकी कच्ची डाल तोड़ेगा, वह अवश्य दड पायेगा। 'नणदल बाई पान तोड़ती है तो

उसे भी सजा मिलेगी। ससुराल भेजदी जायेगी वह। नटखट देवर इसकी हरी कामणी [छडी] तोडता है तो उसे भी सजा मिलेगी। राजा की नौकरी पर बाहर भेज दिया जायेगा वह। समाज का भवन, परिवार की ईंट से निर्मित होता है। यदि उसमे कच्चाई रह जायेगी तो सारे मकान मे ही कच्चाई रह जायेगी। परिवार के वृक्ष नीबू, बबूल, आम, मरवा, नीम—ये सब तो, सबके सहयोग से, हमेशा फलते रहने चाहियें। यदि इन्ही से पान और डालियाँ तोडनी शुरू करदी जाँय तो फिर कैसे काम सरेगा ?

लोक-जीवन के लिए हरियाली से बढ कर कोई अन्य सुख नही है। इसलिए किसी भी समय, किसी को भी आशीर्वाद देते समय, हरियाली के बाहर उसे कुछ और लक्षित ही नही होता। बहिन, भाई को आशीर्वाद देती है तो कहती है—मेरे लाडले भैय्या तुम कडवे नीम की तरह बढना। हरी दूब की तरह फलना-फूलना। वेलडियो की तरह फैलना।

बधज्यो रै, बीरा, वड पीपळ ज्यू
फळज्यो रै, बीरा, कडवे नीम ज्यू
*
बधज्यो कडवा नीम ज्यू
बीरा, बधज्यो ओ हरियाळी द्रुव
*
बधियो रै, बीरा, वेला ज्यू
*
फळज्ये ये, भावज फळ-फूला ज्यू
बधज्ये ये, भावज, मायली दूब ज्यू
*
बीरा, फूलज्यो रै फळज्यो आम री डाळ ज्यू

जिस व्यक्ति की जिन्दगी हरियाली के बीच सम्पन्न होती है, जो हरियाली के बीच खाता-पीता है, उठता बैठता है, वह इन आशीर्वादो की सत्यता को ठीक से अनुभव कर सकता है कि सिवाय इन उपमानो के, किसी भी और वस्तु से भाई या भावज को आशिष नही दी जा सकती। चारो ओर की हरियाली को देख कर लोक-जीवन तो प्रसन्न होता ही है, साथ मे वह यह भी चाहता है कि समस्त प्राणी-जगत भी उसके साथ आनंदित हो, उल्लसित हो, यह और से

भी आशा करता है कि बरसात के दिनों में, हरियाली की छवि को निहार कर, वह भी बार-बार बोले। वह कोयल से भी आशा करता है कि वह हरियाली का, अपने मीठे स्वरों से अभिनन्दन करे। वह पपीहे से फरमाइश करना चाहता है कि सुहावने मौसम पर वह हरदम बोलता ही रहे— कभी रुके ही नहीं।

> मोठ-बाजरी सू खेत लहरकै, बगड़-बगड़ हरियाळी छाई,
> रुत आई रै, पपइया, थारै बोलण री, रुत आई!
>
> *
>
> हरिये हरियाळै डाळै काळी कोयल बोलै राज
> बोलै, बोलावै, मैया सबद सुणावै राज
> मीठा सबद सुणावै राज!

लोक-जीवन के चारों ओर छाई हरियाली के प्रतिबिंब का आभास, उसे अपनी हर वस्तु मे दिखलाई पड़ता है। उसे स्वयं अपना जीवन भी हरा-भरा ही दिखता है। अपने जीवन से सम्बन्धी प्रत्येक चीज मे भी हरी प्रतिच्छवि उसे दिखलाई दे जाती है। सारा वातावरण ही हरियाली से मानो प्रतिबिंबित हो उठता है। जब दूल्हा घोड़े पर चढ कर तोरण की तरफ आता है तब खुशी के उस वातावरण मे दूल्हा केवल दूल्हा ही नहीं दिखता, वह 'हरियाळी बनड़ा' दिखता है। 'जद हरियाळी बनडो तोरण आयो ग्रे। लोक गीतो मे, लोक-जीवन की विशिष्ट स्थितियाँ, अपने इसी सम्पूर्ण रूप के साथ चित्रित होती हैं। एक-एक शब्द सार्थक और अर्थ-पूर्ण होता है। उसमें जीवन की यथार्थ चेतना घुली-मिली रहती है। यही कारण है कि जिन्दगी की श्रेष्ठता, लोक गीतो मे प्रयुक्त शब्दो को अपने संस्पर्श से, अपने ही समान श्रेष्ठ बना देती है। इसलिए लोक गीतो के शब्दो का अपना शाब्दिक अर्थ तो हो जाता है गौण और जीवन की अर्थ-पूर्ण व्यंजना प्रमुख हो जाती है। लोक-जिन्दगी से बिना परिचय पाये, इन गीतो का वास्तविक और पूरा परिचय पाया ही नहीं जा सकता।

परोपकार की भावना को स्पष्ट करने के लिए वृक्षो के सिवाय कोई दूसरी उपमा ही नहीं सूझती। उनका अस्तित्व ही दूसरों की भलाई के लिए है। पत्थर मारो और वे मीठे फल खाने को देते है। हारे-थके राही को अपनी छाया मे आश्रय देते है। सुख-शांति देते हैं। आदिम-मानव, छोटे से बीज मे से इतने बड़े वृक्ष के फलने, फैलने और बढ़ने को देख कर आश्चर्यचकित रह

पशु और पक्षी

वनस्पति और पशु-जगत, इन दोनों में, आदिम-मानव के लिए किसका महत्व अधिक है; उसे जिन्दा रखने के लिए कौन अधिक उपयोगी है—दावे के साथ, अन्तिम बात कुछ भी नही कही जा सकती। आदिम-मानव-शिशु की उस असहाय अवस्था मे, वनस्पति और पशु—माँ धरती के दो स्तन समान थे, जिनमे उसे अपना जीवन मिलता रहा था। इन दोनो पर पूर्णतया निर्भर रह कर वह स्वावलम्बी बन सका था। अपने पाँवो पर आप खडा रह सकने की क्षमता हासिल कर सका था। वनस्पति-जगत मे उसे फल, फूल, कद-मूल, पत्ते और बीज खाने को मिलते थे और पशु-जगत मे उसे खाने को पौष्टिक, स्वास्थ्य-वर्धक मास मिला करता था। पशुओं ने अपने प्राण गवा कर, मनुष्य की प्राण-रक्षा की थी। अपना रक्त, मास और अपनी मज्जा देकर, मनुष्य की देह को पुष्ट बनाया था। आदिम-शिकारी ने अपनी भूख मिटाने के लिए पशुओ से प्राण माँगा तो उन्होंने अपने प्राण देकर उसकी भूख को शात किया। आदिम चरवाहे ने उन्हे जिन्दा रख कर अपनी भूख मिटानी चाही तो उन्होने जिंदा रह कर उसकी मनचाही की। उसकी आवश्यकताओं को पूरा किया। स्वय घास खाकर उसे दूध पिलाया। आदिम-किसान ने उन्हें हल मे जोत कर धान उगाना चाहा तो उन्होंने उसकी आज्ञा का वैसा ही पालन किया। आदिम-मानव के लिए जिस प्रकार धरती जरूरी है, उसी प्रकार पशु भी जरूरी है। इनके बिना, उसके लिए जीवन बिताना बडा मुश्किल है। मनुष्य ने कुछ गिने-चुने पशुओं का ही पालन किया। सम्पूर्ण पशु-जगत से उसने अपना वास्ता नही रखा। गाय, बैल, भैंस, बकरी, भेड, हाथी, ऊँट, घोडे आदि कुछ पशुओ को तो पाल कर उसने

सर्वथा अपने योग्य बना लिया। अपने हिसाब से उनको दीक्षित कर लिया। उनके प्राकृतिक स्वभाव ही को अपनी इच्छानुसार ढाल कर परिवर्तित कर दिया। उन्हें जंगली से पालतू बना लिया। आदिम-मानव के लिए सीधे रूप से प्रकृति ही उसका सामूहिक रसोईघर है। उसीसे उसे मांस और भोजन खाने को मिलता है। आदिम-मानव की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह स्वभाव से कृतघ्न बिलकुल नहीं है। कृतज्ञता कैसे प्रकट की जाती है, यह उसी की, अपनी ही चीज है। वनस्पति और पशु-जगत के प्रति अपनी कृतज्ञता ही को उसने अपनी कला, अपने साहित्य और अपने विज्ञान में सर्वत्र दर्शाया है। जब कभी, जैसा भी उसे मौका मिला, उसने प्रकृति के प्रति अपनी कृतज्ञ-भावना को प्रकट करने की अनजाने भी भूल नहीं की। पशुओं को उसने अपने पिता तुल्य माना है। पशुओं के प्रति उसकी यह कृतज्ञ-भावना, उसका व्यवहारिक धर्म है। पशु व प्रकृति की पूजा ही उसका आदिम विज्ञान है, उसकी कला है। प्रकृति, वातावरण और वस्तु-जगत के प्रति व्यवहारों की भिन्नता ही विकास-क्रम के विभिन्न दौर हैं। आधुनिक सभ्य मानव और आदिम-मानव, प्रकृति तथा वातावरण के प्रति अपनी विभिन्न चितना और विभिन्न व्यवहार के कारण ही अपनी विभिन्न विकास-अवस्था को लक्षित करता है। आदिम-मानव, पशु-जगत में अपनी चेतना का सबसे अधिक साम्य देखता है। पशु उसके समान चलते-फिरते है खाते है, पीते हैं, आवाज करते हैं, विभिन्न मनोदशाएँ प्रकट करते हैं। कुछ अर्थों में अपने से अधिक प्राकृतिक शक्ति व सामर्थ्य महसूस करने के कारण वह पशु और पक्षियो के प्रति विस्मय भी प्रकट करता है। पक्षियो की तरह वह नील खुले आकाश में उड नहीं सकता। मछलियो की तरह पानी में तैर नहीं सकता। हरिणो के समान तेज दौड नहीं सकता। ये प्रकृति-गत विवशताएँ, आदिम मानव के अकृत्रिम मन में आश्चर्य के भावो का सचरण करती हैं। और अपनी इस आश्चर्य भावना को वह अपनी कला में व्यंजित करता है।

प्रकृति के जड-पदार्थों—पहाड, नदी, बादल आदि में भी जब आदिम-मानव अपनी मानवीय चेतना का अनुभव करता है तो फिर जीव-धारी पशु-पक्षियों को ठीक अपने ही समान अनुभव करना, उसकी आदिम-वृत्ति के लिए सर्वथा स्वाभाविक है। सत्य है। वह मनुष्य के समान, पशु-पक्षियों से भी वैसी ही आशा रखता है। अपने हृदय का कुशल-क्षेम उनसे प्रकट करता है। वह उनकी

व्यथा को पहिचानता है और उनके सामने अपनी व्यथा को खोल कर रखता है।

पक्षिया की तीव्रगामी उडान ने, आदिम मानव के मन मे, हमेशा अपनी मनोदशाओ के अनुकूल सदश वाहन के इस योग्य समाधान को बार बार उक-साने की सदियो से चेष्टा की है। अत मे सदेश वाहन का कार्य उसने पक्षियो के जिम्मे सौंप ही दिया और वे आज दिन तक अपने इस उत्तरदायित्व को भली प्रकार निबाहते चले जा रहे है। राजस्थानी लोक जीवन के सदेश वाहन का काम कुर्जा, काग, कोयल, सूआ, पपइया, हस सारस, सोन चिडकली के जिम्मे रहा है। पत्नि को अपने पति के पास सदेश भिजवाना हुआ तो उसने इनमे से जो भी पक्षी सामने देखा, उसे अपने समाचार बतला दिये। फिर भी उसने कुर्जा काग और सूआ पर सबसे अधिक भरोसा किया है। घर की मेडी पर बैठ काग की बोली ने, लोक-जीवन मे आज दिन तक कितना मिठास सचित कर दिया है उसका न तो कोई पार ही है और न कोई लेखा जोखा ही। मेडी पर बैठे हुए कौए को उड जाने के लिए कितनी बार विनय की गई है, कितनी बार उसे हाथ जोडे गये है इसका भी न तो कही कोई हिसाब है और न कोई उसकी गणना ही। मनोदशा के सदेश वाहक इन पक्षिया का, बदले मे कितनी बार गुड, घी, खांड का थाळ परोस कर भोजन कराया गया है, कितनी बार और कितनी तरह के घूघरे इनके पैरा म बांधे गये है, कितनी बार मिसरी की डलियां इन्ह प्यार के साथ चुगाई गई है, कितनी बार इनकी चोचो को हीगळू से लाल रगा गया है, कितनी बार और कितनी तरह से इनके सुदर पिंजरे बनवाये गये हैं—कभी सोने के, कभी मोतियो के, कभी हीरो के, कितनी बार कीमती रत्नो से सोने के इन पिंजरो को जडा गया है और कितनी बार दूध, दही, मक्खन का कलेवा इन्हे करवाया गया है, इसका जमा-खर्च भी किसी बही-खाते मे नही हुआ। इस हिसाब को रख सकने के लिए न तो इतनी बडी कोई बही है और न ऐसा कोई कुशल मुनीम ही। लोक जीवन की उदा-रता, ऐसा छोटा मोटा हिसाब आंकना नही जानती। लोक जीवन, सदियो से बेगार करता आ रहा है। ठाकुर, महाजन का काम मुफ्त करता आ रहा है। बेगार की व्यथा का दुखदाई अनुभव उसे है। इसलिए वह स्वय किसी से भी बेगार नहीं लेना चाहता। इन सदेश वाहक पक्षियो से भी उसने मुफ्त सेवाएँ नही लीं। बदले मे, अपने सामर्थ्य मुजब, सब-कुछ देने की चेष्टा की है। कही

सुन्दर-सुन्दर भेड़-बकरियों से भरा है। दाढ़ी वाला एक मस्त बकरा उनके बीच घूम रहा है। बाड़ा हमारा—सुन्दर दुधारू गायों से भरा है। एक साँवला साँड उनके बीच घूम रहा है। बाड़ा हमारा—सुन्दर-सुन्दर भैंसियों से भरा है। सुन्दर गाँडियों से भरा है। मजबूत बैलों से भरा है। हम खूब सुखी हैं। जीवन के सारे आनन्द हमें प्राप्त हैं।' इस सहज आनन्द-स्वीकृति में कहीं धोखा-धड़ी नहीं है। फरेब और जालसाजी नहीं है। बनावटीपन और ढोंग नहीं है। पाखण्ड नहीं है। केवल सच्चे मन की सच्ची बात, सहज भाव से व्यक्त हुई है। जीवन की मान्यताएँ बदलती हैं हमेशा बदलती रहनी चाहिएँ, किन्तु फरेब, जालसाजी और पाखण्ड को तो किसी भी कीमत पर प्रश्रय नहीं दिया जाना चाहिए। आज के सभ्य मानव की दृष्टि में, सर्वथा हेय और तुच्छ समझा जाने वाला लोक-जीवन तो पशु पक्षियों के बीच उठता-बैठता हुआ भी मनुष्य कहलाने का अधिकारी है। पशुओं के साथ रह कर भी वह मनुष्य बना हुआ है। परन्तु सभ्य शहरों के सभ्य मनुष्य, रात-दिन मनुष्यों की अपार भीड़ के बीच बिलबिलाते हुए भी दिन-ब-दिन पशु बनते जा रहे है। मनुष्य पर मनुष्य का विश्वास नहीं। मनुष्य को मनुष्य का भरोसा नहीं। सर्वत्र अविश्वास, धोखा और फरेब। सभ्य मनुष्य की सारी पाशविक वृत्तियाँ विकसित हो रही हैं। देह के अन्यथा वह सब कुछ पशु है। और पशुओं के साथ युगों से जिन्दगी बिताते आ रहे लोक-जीवन में आज भी मनुष्यता शेष है और शेष रहेगी। मानव-समाज का भविष्य इसी मनुष्यता के हाथों सुरक्षित रह सकेगा।

अप्रेल १९५६

श्रम का संगीत

प्रकृति और वाह्य-जगत के साथ सम्बन्ध रखने से ही जीवित रहना सभव है। और वस्तु जगत के साथ यह सम्बन्ध केवल मेहनत के ही माध्यम से सम्पन्न हो पाता है। मेहनत करने के लिए जिस प्रकार जिन्दगी आवश्यक है, उसी प्रकार जिन्दा रहने के लिए मेहनत आवश्यक है। जिन्दगी का दूसरा नाम मेहनत है। मेहनत का दूसरा नाम जिन्दगी है। प्रकृति के बाद इस दुनिया मे, सबसे महत्वपूर्ण वस्तु—मनुष्य की अपनी मेहनत ही है। प्रकृति के बाद, इस दुनिया मे, सबसे सुन्दरतम वस्तु भी—मनुष्य की अपनी मेहनत ही है। मानवीय-श्रम से बढ कर कोई दूसरी कला नहीं। कोई दूसरा विज्ञान नही। क्योकि सभी कलाओ के सृजनहार, सभी ज्ञान-विज्ञानो के निर्माणकर्त्ता—स्वय मनुष्य का जन्म भी मेहनत की कोख से हुआ है, नारी की कोख से नही।

वाह्य-जीवन या प्रकृति को बदलने का कार्य केवल 'कामना' से पूरा नही होता। उसके लिए शारीरिक श्रम वाछनीय है। और प्रकृति को बदलने के लिए, प्रकृति के स्वभाव को जानना जरूरी है, उसके नियमो तथा गुणो को जानना जरूरी है। प्रकृति के साथ सघर्ष करते समय, मेहनत के दौरान मे उसके स्वभाव की जानकारी मनुष्य को होती रहती है। उसे प्राकृतिक नियम-कानूनो की अभिज्ञता हासिल होती रहती है। नियमो की जानकारी के बाद, तदनुरूप वैसी ही मेहनत अपेक्षित हो जाती है। और उस मेहनत की क्रियाशीलता के क्रम मे नये-नये नियमो का अनुसन्धान होता रहता है। यही मानवीय-श्रम और विज्ञान का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। विज्ञान—नये-नये कार्यो की सृष्टि करता है। नये कार्यो से, नये नियमो का पता लगता रहता है। यह

पारम्परिक श्रम, मनुष्य को विकास के पथ पर आगे बढ़ाता रहता है। मनुष्य—पशु से इसी जगह भिन्न है कि वह जिन्दा रहने के साधन स्वयं जुटाता है। पशु—सम्पूर्ण रूप से प्रकृति पर आश्रित है। भौतिक जीवन की इन साधन-सुविधाओं को जुटाने के लिए शारीरिक अंग-सचालन द्वारा परिश्रम अनिवार्य है। और इस मानवीय-श्रम की एक विशेषता यह है कि वह शारीरिक इन्द्रियों ही के भरोसे नही है। केवल प्रकृति द्वारा दी हुई शरीर की ताकत ही का वह मुहताज नही है। वह औजारो का प्रयोग मे लाता है। औजारो का प्रयोग ही मनुष्य की अपनी वास्तविक मेहनत है। औजारो को काम मे लेने वाली इसी मेहनत के कारण मनुष्य वस्तु-जगत को बदलता है और उसके साथ स्वयं भी अपने-आपको बदलता रहता है। विकसित होता रहता है। अन्य पशु-पक्षियो के कार्य-कलापो म और मनुष्य की मेहनत मे यही सबसे बडा अन्तर है कि मनुष्य अपने परिश्रम से बाह्य-जगत मे परिवर्तन लाता है और अन्य जीवधारी प्राणी अपने अग-सचालन से प्रकृति को बदलने मे लगभग असमर्थ ही रहते हैं। वे अपने अस्तित्व ही से—जो स्वयं प्रकृति की देन है—केवल अकिंचित् परिवर्तन कर पाते हैं, मानवीय-श्रम की तुलना मे जो सर्वथा नगण्य ठहरता है। मनुष्य अपनी इच्छा से अपने ध्येय के मुताबिक, अपनी पूर्व निर्मित योजना के अनुसार प्रकृति मे सप्रयत्न परिवर्तन करता है। मनुष्य को अपने कार्यों के प्रति चेतना है कि वह क्या कर रहा है ? क्यो कर रहा है ? पशु अपनी चेतना के बावजूद ही सब काम करता है। उसकी कार्य-चेष्टाएँ केवल सयोग-मात्र हैं। पशु की प्रकृति-गत विवशता जहाँ समाप्त होती है, वही से मनुष्य की स्व-निर्मित समाजगत-स्वतन्त्रता आरम्भ होती है। पशु प्रकृति का गुलाम है। मनुष्य अपनी चेतना का आप मालिक है। इसलिए मनुष्य की काम करने की सामाजिक विधि को ही मेहनत के नाम से सम्बोधित किया जा सकता है। हरिणो की तेज दौड, घोडो की अथक शक्ति, मकडियो का बडी बारीकी व सफाई से जाला बुनना, चिडियो का एक-एक तिनका चुन कर घोंसला बनाना, हाथियो की बेमिसाल ताकत, सिहो की शिकार करने की हिंसक शक्ति आदि ये सब उनके प्रकृति-गत स्वभाव हैं—उनकी मेहनत नही। मेहनत—केवल मनुष्य करना जानता है। मेहनत—मनुष्य की अपनी विशेषता है।

वह मेहनत ही थी जिसने मनुष्य का निर्माण किया। और आज दिन भी वह मेहनत ही है कि जिसके बिना मनुष्य का काम नही चल सकता। उसके

सारे सामाजिक कार्य-व्यापार मेहनत के माध्यम से ही आरम्भ होते हैं और अंत तक मेहनत के माध्यम से ही समाप्त हो पाते है। मेहनत की वास्तविक क्रियाशीलता के कारण ही उसकी शक्तियो का विकास हुआ था, विकास हो रहा है और चिरकाल तक उसका विकास होता रहेगा। न मेहनत ही की कोई सीमा है और न मनुष्य की सामाजिक शक्तियों के विकास का कोई अन्त ही। दोनो ही असीम हैं। दोनो ही अनन्त हैं।

मेहनत ने मानव-शिशु को केवल जन्म देकर ही उसे उसके भरोसे छोड नही दिया। उसे कभी भी अपने उत्तरदायित्वों से परे नही किया। बिना माँगे, जरूरत पडने पर उसने अपने पुत्र के मन की बातों को, उसकी रुकावटों को, उसके अभावो को, उसकी कठिनाइयों को समझा है और समझने के साथ ही निर्विलम्ब उसकी आवश्यकता को पूरा किया है। उसे पशु से मनुष्य बनाया और मनुष्य बना देने के बाद परिवर्तितकर्त्ता और परिस्थितियो के बीच नई कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं तो उसने उन कठिनाइयो को भी दूर किया। उसने मनुष्य के हाथो को सम्पन्न और शक्तिशाली बनाया, उसे समूह मे रहने की प्रेरणा दी। जरूरत पडने पर उसने मनुष्य के गले को वाणी से मुखरित किया। जरूरत पडी—उसे सभी प्रकार की कलाओ से मंडित किया। उसे विज्ञान की समृद्धता प्रदान की। उसकी वाणी को लिपि का रूप दिया। मनुष्य की जरूरतें बढती ही गई और मेहनत ने उसकी हर जरूरत को पूरा किया। वह उसकी जरूरतो को आज दिन भी पूरा कर रही है और भविष्य मे चिरकाल तक करती रहेगी।

अन्य सभी जरूरतो की तरह कविता भी मनुष्य की 'जरूरत' के समाधान ही के फलस्वरूप उत्पन्न हुई थी। आदिम-मानव की सामूहिक आवश्यकता तथा उसकी सामूहिक प्रतिभा को व्यक्त करने के लिए कविता ही एक-मात्र माध्यम थी। श्रम की तालो के बीच कविता ने अपना जन्म ग्रहण किया था। और तत्पश्चात् श्रम को सहज, सुन्दर और मधुर बनाया था। तब न श्रम को कविता से अलग किया जा सकता था और न कविता को श्रम से। श्रम—कविता की विषय-वस्तु था और कविता—श्रम का रूप। समूह की भावना, उसकी आशा-आकाक्षा, उसके हर्षोल्लास को समा सकने की ताकत, जितनी कविता मे है, उतनी किसी भी अन्य साहित्य के उपकरण मे नही, क्योकि कविता सामूहिक औसत भावनाओ ही का परिणाम है।

कोई यह चाहता है कि उसका साथी ही यह नारियल ले। लोक-जीवन की प्रतियोगिता भी मानवोचित उदारता से शून्य नहीं होती। 'साथी, यह नारियल तुम लेवो। नारियल ठेठ नागौर का है। चोटी उसकी बीकानेर की है। सागानेर का तालू है उसका। नारियल कच्ची गिरियो वाला है। अत्यत मिठा। चोटी इसकी लम्बी है। अत्यत सुन्दर। नारियल खेत के उस परले किनारे पर है। वहाँ जाने से ही मिलेगा।' हर मेहनत करने वाले के हाथ मे ऐसा ही मीठा नारियल होता है। लोक-जीवन मे मेहनत एक कला है। वह अपने आप ही मे मधुर है।

> कडवी काटे नी मोटियार
> थू म्हारी जोडी रौ जवान
> जोडी जुतजा रै जवान

लोक-जीवन के लिए मेहनत करना, एक सर्वोपरि आनन्द की वस्तु है। उसके लिए तो मेहनत करना ही सच्ची जिन्दगी है। उसमे जी चुराना तो उसकी निगाह मे मौत से भी बदतर है। मेहनत के समय उसके हौसले बढ जाते है। उत्साह द्विगुणित हो जाता है। मन हर्षातिरेक से नाच-नाच उठता है। 'तुम भी जवान हो, मै भी जवान हूँ। दोनो की बडी सुन्दर जोडी है। काम करने से इस जोडी की सुन्दरता और भी बढेगी।

> देवर नै भौजाई वाबल, बावौ नी दातळियौ
> दूधा रा पियाकड, देवरजी, आवण दौ दातळियौ
> छाछा री पियाकड भावज, आवण दै दातळियौ
> सासू रा चूग्योडा, देवर, आवण दौ दातळियौ

हँसिया चलाते समय, देवर-भौजाई की यह सुन्दर प्रतियोगिता, बस देखते ही बनती है। 'देवर लाला! आने दो अपनी पूरी ताकत से हँसिया। मै भी देखूँ तो जरा सास के दूध की ताकत! मेरी सास के लाडले, आने दो अपनी पूरी *ताकत से हँसिया। देखूँ तो जरा सास के दूध की ताकत!*' देवर दूध पीने वाला है। भावज छाछ पीने वाली है। छाछ और दूध की ताकत का जोर ताला जा रहा है।

लोक-जीवन की दृष्टि मे श्रम से बढ कर अन्य कोई गौरव की वस्तु नही है। श्रम ने गीतो को पैदा किया तो लोक-जीवन ने अपने गीतो मे श्रम के

अंधविश्वासों के गीत

मनुष्य का इतिहास—उसकी अपनी सस्कृति, उसकी अपनी परम्परा, प्रकृति तथा समाज के साथ उसके विकसित सम्बन्ध एव सघर्षों की कहानी है। इस इतिहास का निर्माणकर्त्ता वह स्वय है। अपने इतिहास, अपने समाज और अपने विकास का निर्माण उसने प्रकृति के बावजूद, उससे सघर्ष करते हुए, उसे अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल काम मे लाते हुए, स्वय अपनी मेहनत से, अपने ज्ञान तथा अपनी समझ-बूझ से किया है। अपने विकास का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व स्वय मनुष्य के अपने कन्धो पर है। मनुष्य का प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है—दो जगह से। एक—प्रकृति और दूसरा—समाज। नई परिस्थितियो, नये सघर्षों और नये अनुभवो के दौरान मे इनके साथ उसके सम्बन्धो मे परिवर्तन होता रहता है। प्रकृति और समाज के साथ उसके ये परिवर्तित-सम्बन्ध ही, उसके विकास तथा उसकी प्रगति को लक्षित करते हैं। परिवर्तन के इस विकास-क्रम से यह स्पष्ट हो जाता है कि न प्रकृति के साथ मनुष्य का सम्बन्ध कभी एक-सा रहा है और न समाज के साथ ही। आधुनिक युग के सभ्य मनुष्य का प्रकृति के साथ आज जो सम्बन्ध है, उसके प्रति उसकी जो मान्यताएँ तथा जो धारणाएँ हैं, इनसे सर्वथा विभिन रूप ही आदिम-मानव के व्यवहार-जगत से प्रकट होता है। प्रकृति के साथ आदिम-मानव का जो सम्बन्ध है, उसीमे उसकी चेतना, उसकी कला, उसके चिंतन, उसके धर्म, उसकी पुराण-कथाओ और उसके देवी-देवताओ के मूल भूत सत्यो की जानकारी प्राप्त हो सकती है। आदिम-मानव—प्रकृति से अपने भिन्न अस्तित्व की चेतना का अनुभव तो कर लेता है, परन्तु उसकी अपनी चेतना से, वस्तु जगत या वातावरण के भिन अस्तित्व की आत्मानुभूति

उसे सही हो पाती। वह स्वयं को प्रकृति के अवयव के अतिरिक्त न मानकर, प्रकृति ही को अपनी चेतना का अंश समझता है। इसलिए उसका विश्वास है कि प्रकृति के कार्य-व्यापारों पर अपनी कामना के अनुसार वह नियन्त्रण रख सकता है। प्रार्थना के रूप में इच्छा या चाह प्रकट करने से उसका विश्वास है कि प्रकृति उसका कहा मानेगी। प्रकृति के साथ आदिम-मानव का यह सम्बन्ध—मंत्र जादू, टोना, इन्द्रजाल, धार्मिक-अनुष्ठान तथा विधि-कर्म, भूत, प्रेत, पिशाच, प्रेतात्मा आदि की भावनाओं के रूप में व्यक्त होता है। आदिम वर्ग-हीन समाज में यह जादू-टोने की भावना ही आदिम-मानव का व्यावहारिक धर्म है, उसका विज्ञान है, क्योंकि वह वस्तु-जगत को इसी रूप में ग्रहण करता है। इसके अन्यथा प्रकृति के प्रति उसकी कोई वैज्ञानिक धारणा नहीं होती। आधुनिक विज्ञान का विकास भी इसी जादू-टोने की भावना से ही हुआ है। प्रकृति के स्वभाव और उसके नियमों को ठीक से समझ नहीं पाने के कारण, जहाँ आदिम मानव का वश नहीं चलता वहाँ जादू-टोने की यह आदिम-भावना ही उसे यथार्थ बल प्रदान करती है। जहाँ उसका प्रत्यक्ष सामर्थ्य, उसकी शारीरिक शक्ति समाप्त होती है, वहीं से आदिम-मानव की ऐन्द्रजालिक भावना का आरम्भ होता है। आदिम मानव की धार्मिक-भावना का यही वास्तविक आधार है। अपने वश के परे ही, प्रकृति को अपनी चेतना का अंश समझने के कारण वह हर आवश्यकता पर देवी देवताओं से प्रार्थना करता है। सामूहिक रूप से उन्हें प्रसन्न करने के लिए उत्सव मनाता है। नाचता है। गाता है। आदिम-मानव की इस धार्मिक-वृत्ति में, वैयक्तिक इच्छा-उपासना के स्थान पर, सामूहिक आवश्यकता ही महत्वपूर्ण है। प्रकृति या वातावरण के साथ समूह का जो सम्बन्ध है—वह जरूरत पड़ने पर कभी व्यक्ति के माध्यम से, कभी परिवार के माध्यम से कभी सामूहिक आयोजन के माध्यम से—अपनी अभिव्यक्ति पाता है।

भैंरू जी, काठे रै गवा री चाढू लापसी,
मांय तो गाया रो देसी घीव,
कासी रा वासी, अेक अरज म्हारी सांभळो!
भैंरू जी, कदय न भीजी म्हारी दूधा कांचळी,
भैंरू जी, कदेय न भीज्यो म्हारो कांधो लाळ सू,
कासी रा वासी, मन पुत्तर बिन कुळ मे बांभडो!

पुत्र के लिए भैरूंजी से प्रार्थना की गई है। भैरूंजी के रूप में इस देवता का, समूह की आंतरिक चेतना या उसकी मानसिक कल्पना के अन्यथा कोई भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। समूह के अन्तर्जगत ही ने इसको, अपनी चेतना के द्वारा किसी बाह्य आवश्यकता को महसूस करने के पश्चात्, एक निश्चित रूप और आकार प्रदान किया है और तत्पश्चात् अपनी ही चेतना द्वारा स्थापित किये हुए स्वरूप की स्वतंत्र सत्ता के बाह्य-रूप को ही वह पूर्ण मान्यता प्रदान कर देता है। इस तरह काल्पनिक होते हुए भी वह समूह के लिए एक 'यथार्थ' बन जाता है। तब उस देवता-विशेष को समूह के आचार-व्यवहार, उसके रहन-सहन के अनुसार, अपने सदस्य ही की भांति दीक्षित कर लिया जाता है। उसके लिए देवता समूह के साथ ठीक उन्हीं की तरह सामूहिक जीवन व्यतीत करता है। वह समूह का एक अंग बन जाता है। भैरूंजी के साथ समूह एक जीवित मनुष्य ही की तरह बर्ताव करता है। 'काठे गेहूँओं की लापसी बनाई जायेगी—उनके लिये। गायों का देशी घी डाल कर उन्हें वह लापसी परोसी जायगी।' वन्ध्या की ओर से भैरूंजी को कैसी मर्मान्तिक प्रार्थना की गई है। कितनी सच्चाई व विश्वास के साथ प्रार्थना की गई है कि बस एक ही क्षण में वे द्रवित होकर उसकी कामना को पूरा कर डालेंगे। नारी की जिन्दगी पाकर कभी उसकी कांचळी दूध से न भीगी तो फिर इस जिन्दगी की सार्थकता ही क्या ? इस जीवन का सार ही क्या ? कासी के वासी को उसकी यह एक छोटी-सी अर्ज है कि वह उसके बांझपन को मिटा दे। 'वह अपने पीहर में उनके लिए थान बनवायेगी। हर समय, पास से गुजरते हुए वह उन्हें धोक देगी।' आदिम-मानव का यथार्थ-जगत उसकी कल्पना का पुट पाकर काल्पनिक-रूप धारण कर लेता है और उसका काल्पनिक जगत उसके यथार्थ का पुट पाकर वास्तविक बन जाता है। इस कारण यह भेद करना मुश्किल हो जाता है कि उसके यथार्थ और काल्पनिक-जगत में कहाँ भिन्नता है ?

बडीजी तो आया जी, लोडी के प्यारा पावणा।
चोकी तो चावळा, जी बडी जी थानें बैसाणा, दूध पखाळा पांव,
चावळ तो राधा, जी बडी जी थानें उजळा, हरिये मूगा री दाळ,
घेवर तळा, जी बडी जी थानें टोकणा, पापड तळा श्रे पचास।

आदिम-मानव के लिए मरा हुआ व्यक्ति भी किसी न किसी रूप में समूह के बीच जिन्दा रहता है। उसको मरने पर समूह के बीच से एकदम मार दिया

नही जाता। उसकी ग्रात्मा, समूह के हर सुख-दुख के समय जीवित रहती है। वह मर कर भी सामूहिक ग्रायोजनों मे भाग लेता है। समूह के लिए वह जिन्दे के समान ही रहता है। दूसरा विवाह होने पर भी, पहिले की मृत स्त्री को पूर्णतया मरा नही माना जाता। पितराणी के रूप मे उसकी पूजा होती है। 'लोडी के लिए ग्राज सुगी का पार नहीं है। क्योंकि वडीजी उसकी पाहुनी बन कर ग्राई हैं। उनको सम्मानपूर्वक चावलो की चौकी पर बिठाया जायेगा। दूध से उनके पाँव पखारे जायेंगे। उजले चावल राँधे जायेंगे। हरे मूँगो की दाल बनाई जायेगी। घी से गडगच बाटिये बनाये जायगे। तीस-बत्तीस प्रकार के साग, बडे बडे घेवर ग्रौर पचासो पापड तळे जायेंगे। बीजा-पुर के पखे से उन्हे बयार की जायेगी। उनकी ग्रगुलियाँ, मूँगफलियो के समान लम्बी ग्रौर पतली है। उनके दाँत, दाडम के बीजो के समान सुन्दर हैं। भोजन कराते समय उनकी ग्रगुलियों की सुन्दरता को लोडी निरखती रहेगी। दाडम के बीजो के समान सुन्दर उनके दाँतो की स्मित मुस्कराहट को वह एकटक निहारती रहेगी।' इतना सब कुछ होगा—फिर कैसे मान लिया जाय कि पितराणी का समूह के बीच कोई ग्रस्तित्व नही है। ग्रादिम-मानव—मृत व्यक्ति की प्रेतात्मा के प्रति जीवित मनुष्य के समान ही व्यवहार करता है। बाह्य जगत उसकी चेतना का स्पर्श पाकर प्राणवन्त हो उठता है। बीमारियो के सम्बन्ध मे भी 'ग्रादिम वृत्ति'—ग्रपनी चेतना के ग्रनुसार विशेष बीमारी के विशेष देवी-देवता से पूजा प्रार्थना करती है ग्रौर ग्रपने ग्रादिम-स्वभाव के ग्रनुसार उसका उसी रूप मे उपचार खोजती है। शीतला माई के ग्रनेकों गीत, इकातरा के बुखार की कथा, खुलखुनिये का रातीजगा, निवाळे का जागरण ग्रादि कई बीमारियो का उपचार गीतो के रूप मे देवियो की प्रार्थना के जरिये किया जाता है। ऐसी ही है ग्रादिम मानव की वृत्ति। वह बाह्य-जगत को ग्रपनी चेतना मे समेट कर उसका मानवीयकरण कर लेता है।

> हालौ विनायक, ग्रापा जोसी रै हाला
> चोखा-सा लगन लिखासा हे म्हारो विडद विनायक
> चालौ विनायक, ग्रापा बजाज रै हालां
> चाखा-सा साळूडा मोलावसा, म्हारौ विडद विनायक'

गणेश, गणपति या विनायक—शुभ ग्रौर मगलकारी देवता है। हर कार्य के प्रारम्भ मे उसकी ग्रपेक्षा रहती है। विवाह शादी के ग्रवसर पर तो विनायक

के गीतों की जैसे झड़ी-सी लग जाती है। हर गीत में लगता है कि विनायक बारातियों की तरह एक साधारण मनुष्य है और उससे काम लिया जा रहा है। चलो विनायक जोशी के यहाँ चलें और एक अच्छा-सा लगन लिखवा कर ले आयें। चलो विनायक, महाजन की दुकान पर चलें और बढ़िया रेशमी वस्त्र खरीद लायें। चलो विनायक, सोनार के घर चलें और सुन्दर सुन्दर गहने घड़वा कर ले आयें। पसारी के चलो, गाँधी के चलो, हलवाई के चलो, तमोली के चलो। यह विवाह का अवसर है। न जाने कितनी जगह से कितनी-कितनी चीजें लानी हैं। आदिम मानव का धर्म उसकी जिंदगी से कोई अलग वस्तु नहीं है। उसकी जिंदगी में उसका धर्म समाया हुआ है और उसके धर्म में उसकी जिंदगी अंतर्निहित है। हर शुभ अवसर पर—विवाह के समय, जन्मोत्सव पर, खेत अवेरने पर, खेती करने पर, अच्छी वर्षा होने पर या कोई भी अन्य खुशी होने पर—देवी देवताओं के गीत गाये जाते हैं।

आदिम-मानव—अपने जीवन में हर कार्य के लिए अच्छे-बुरे के शकुन विचारता है। यात्रा के समय दिशा-शूल का ख्याल रखता है। ये मान्यताएँ भी उसके जीवन में इतनी गहरी समा गई हैं कि वह उनकी उपेक्षा किसी भी तरह नहीं कर सकता। वह बुधवार को यात्रा के लिए घर से प्रस्थान नहीं करता। मंगल या शनि को दाढ़ी या बाल नहीं कटवाता। शनिवार को नया जूता नहीं पहनता। शनि को नये कपड़े नहीं पहनता। यात्रा के समय दूध नहीं पीता। गुड़ और दही को यात्रा के समय मांगलिक समझता है। यात्रा पर जाते हुए, घर से बाहर निकलते समय सुहागिन स्त्री, जल से भरा हुआ घड़ा, जाट और मेहतर—मंगलकारी शकुन माने जाते हैं। और खाली घड़ा, नंगा सर, लकड़ियों की भारी, कान फड़फड़ाता हुआ कुत्ता, बिल्ली का रास्ता लाँघना, सामने की तरफ छींक होना—अशुभ माना जाता है।

म्हने बायो तीतर बोलियो
श्रेव दायो बोली कोचरी

बाईं तरफ तीतर और दाहिनी तरफ कोचरी का बोलना शुभ माना जाता है। राह में गधा मिल जाय तो उसे बाईं ओर टाला जाता है और जहरीले जन्तुओं को दाहिनी ओर।

आदिम वर्ग-हीन समाज में, जादू-टोने के रूप में, इन धार्मिक-मान्यताओं की उपज एक आवश्यकता थी। 'प्रकृति' के अस्पष्ट-सम्बन्ध ने ही इस जादू-

टोने की भावना को जन्म दिया था। और धर्म का यह आधुनिक रूप 'समाज' के अस्पष्ट सम्बन्धों के कारण उत्पन्न हुआ है। कला और विज्ञान के विकास ने आदिम-मान्यताओं को वैज्ञानिक और स्पष्ट रूप प्रदान कर दिया है, लेकिन वर्ग-समाज की अस्पष्टता के भीतर मनुष्य एक बार फिर खो गया है। धर्म का अन्धकार उसे सही राह खोजने में बाधा पहुँचा रहा है। धर्म के नशे में मनुष्य अपना सही रूप पहिचान नहीं पा रहा है। वह समाज के सम्बन्धों को स्पष्ट रूप से समझ नहीं पा रहा है। इसलिए *वर्ग-समाज में धर्म की आलोचना—समाज की आलोचना ही है।* धर्म को चुनौती देना—वर्ग-सत्ता को चुनौती देना है।

अप्रेल १९५६

ऊजली की विरह-वेदना का मर्म

आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति मनुष्य की जिंदगी मे निसदेह सबसे महत्वपूर्ण समस्या है। महत्वपूर्ण इसलिए नही कि उनका स्वतन्त्र रूप से कुछ मूल्य है। इसान की जिन्दगी से अलग इनकी स्वय मे एक कानी कौडी भी कीमत नही। समय के साथ बदलती हुई मनुष्य की इन अगणित आवश्यकताओ को केवल एक छोटे से शब्द मे सीधे रूप से स्पष्ट करना चाह तो वह है—जीवन। लेकिन आज मनुष्य की यही सबसे बडी विडम्बना है कि जिन्दगी के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए आवश्यक इन समग्र भौतिक वस्तुओ ने एक दूसरे ही शब्द मे अपने को सन्निहित कर लिया है, और वह है—रोकड या पैसा!

पैसा मनुष्य के लिए भौतिक रूप से वतई आवश्यक नही है। किन्तु वही अनावश्यक मुद्रा आज इसान की जिन्दगी का एकमात्र उद्देश्य या साध्य बन कर रह गई है, जिसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य ने अपने जीवन और अपने शरीर तक को निमित्त बना रखा है। आर्थिक समस्या रोकड की समस्या नही है। वह जीवनयापन और विकास की समस्या है। मनुष्य के सामाजिक व रागात्मक सम्बन्धो की समस्या है।

यह तो केवल प्रचलित व्यवस्था का ही दोष है कि मनुष्य की समूची भौतिक आवश्यकताएँ केवल पैसों मे निहित हो गई है। आवश्यकताओ के साथ-साथ मनुष्य के समस्त सामाजिक सम्बन्ध, उसकी रागात्मक भावनाएँ, उसका कलात्मक सौन्दर्य-बोध, उसका वैज्ञानिक विकास, उसका समस्त परम्परागत ज्ञान, उसकी सास्कृतिक थाती और प्रकृति पर उसकी निरन्तर विजय—मतलब कि उसका सर्वस्व आज पैसो मे समाहित हो गया है। आज मनुष्य के लिए

मनुष्य की देह प्यारी नहीं, पैसा प्यारा है। चाम नहीं, दाम प्यारा है।

शोषण के भूत ने मनुष्य के शरीर से उसका कलेजा और दिल निकाल लिया है और तोंद के रूप में उसने पेट को इतना बढ़ा दिया है कि जिसके फलस्वरूप आज पेट ने मनुष्य की समूची देह, उसके मस्तिष्क, उसके मानस और उसकी समग्र चेतना को ही पचा डाला है। मनुष्य की पाचन-शक्ति आज इतनी तीव्र, उग्र और हिंसक बन गई है कि वह उसके शरीर और मन को ही खाये जा रही है। पेट की आग में मनुष्य के सारे रागात्मक सम्बन्ध, उसकी सुकोमल भावनाएँ जल कर नष्ट हुई जा रही हैं।

इस निर्जीव पैसे ने आज मनुष्य को भी ठीक अपने ही समान निर्जीव बना डाला है।

आज की व्यवस्था में मनुष्य के अन्तर्जगत की सारी सुकोमल भावनाएँ—बाजार, प्रतियोगिता और शोषण की विभीषिका के कारण कुंठित, विकृत एवं नष्टप्राय हो रही हैं। आज पैसा केवल भौतिक वस्तुओं को खरीदने का ही साधन नहीं बल्कि मनुष्य की सुकोमल भावनाओं को और उनकी रागात्मक प्रवृत्तियों को भी खरीदने का साधन बन गया है। धान, तेल, नमक, मिर्च और लकड़ी के क्रय-विक्रय तक ही उसकी ताकत सीमित नहीं बल्कि उसकी पवित्र तुला पर प्रेम वात्सल्य, स्नेह, ममता, मोह आदि सब कुछ खरीदा और बेचा जाता है।

नारी के जिस प्रेम विरह और उसके सौंदर्य को लेकर साहित्य में कितना कुछ लिखा गया है और न जाने कितना कुछ लिखना शेष है—उस नारी का प्यार आज टके सेर हो गया है। केशव और बिहारी की नायिकाओं का आकर्षक शरीर आज नमक और हल्दी से भी सस्ता हो गया है। उनकी अनमोल चितवनें आज आना-पाइयों के वशीभूत हो गई है। कालिदास की शकुन्तला आज हर ऐरे-गैरे दुष्यत को, जिसकी मुट्ठी में पैसा है, उसे अपना सुन्दर शरीर, अपना मन और अपना प्यार बेच रही है। सूरदास की भ्रमर गोपिकाएँ आज मानव-देहधारी प्रत्येक गोपाल को अपना मक्खन सा शरीर और दूध-सा पवित्र मन बेचने को विकल हैं, जो उनके पास पैसा लेकर पहुँचता है। प्रेम-नायिकाओं की कमल सी आँख, चकित हिरणी सी उनकी चितवनें, बिंबाफल से उनके गुलाबी होंठ, रेशम की डोर से उनके पतले अधर, वासुग के समान उनकी केश-राशि, धनुष के समान तनी हुई उनकी भृकुटियाँ, कमल-नाल सी उनकी

पतली कमर, पीपल के पत्ते सा उनका सुकोमल पेट, देवल के थम्भो सी उनकी सुडौल जघाएँ, कमल के पत्ते सा उनका थिरकता मन, हसनी के समान उनकी सुमधुर गति, मारनी-सी उनकी लम्बी ग्रीवा—जिन्हे पाने के लिए तपस्या और साधना करनी पडती थी—आज वे पैसे की दानवी क्रयशक्ति के कारण इतनी सहज और सस्ती हो गई हैं कि उनमे कोई प्रेम व आकर्षण शेष नही रहा। नारी की देह और उसका प्यार केवल शारीरिक आवश्यकता की वस्तु-मात्र बन कर रह गया—जिसकी चौडी छाती, पतली कमर, व झीनी पसलियो को पाने के लिए न शिव को पूजने की आवश्यकता है और न हिमालय जाकर गलने की और न तपस्या करने की—

> उर चवडी कड पातळी, झीणी पासळियाह।
> कै मिळसी हर पूजिया, कै हेमाळै गळियाह॥

केवल अटी मे पैसा और पाने की इच्छा भर होनी चाहिए। न इससे कुछ अधिक, न इससे कुछ कम। आज नारी जैसी सहज प्राप्य वस्तु के लिए तोप, तलवार, युद्ध और खून बहाने की रत्ती भर आवश्यकता नही। पैसे मे खून, तलवार और युद्ध से अधिक ताकत है।

मेघदूत मे वर्णित अलका नगरी की सुन्दर यक्ष-कुमारियाँ जिन्हे पाने की देवता भी अभिलाषा करते थे, उन्हे आज पैसे की अमोघ शक्ति के बूते पर सहज ही हथियाया जा सकता है। केवल अटी मे पैसा और पाने की साधारण इच्छा भर होनी चाहिए। न इससे कुछ अधिक, न इससे कुछ कम।

अलका नगरी की उन सुन्दर यक्ष-कुमारियो के प्रेमातुर हृदय मे इतनी उलट लज्जा की गहनतम भावना अतर्निहित थी कि अपने अभिनतम प्रेमी के सम्मुख भी उन्ह क्रीडा के समय रत्न प्रदीप का प्रकाश तक सह्य नही होता था। मुट्ठी भर कुकुम फेंक कर उनका सकोचशील मन उन्ह बुझाने की चेष्टा करता था—

> नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र बिम्बाधराणां -
> क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु।
> अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपा -
> न्ह्रीमूढाना भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टि ।—उत्तरमेघ ७

[यहाँ कामातुर प्रेमी लोग जब [अविनीत होकर] अपने चपल हाथो से बिम्बाफल के समान ललित अधरो वाली अपनी प्रियाओ की वसन-ग्रंथियाँ

डीली करते हैं, और प्रेमोद्वेग से दुकूल को दूर कर देते हैं तो उत्कट लज्जा से विमूढ़ ये रमणियाँ [प्रकोष्ठ का प्रकाश बुझाने के हेतु से] उज्ज्वल जगमगाते हुए रत्नदीप की ओर मुट्ठी भर कर कुंकुम चूर्ण फेंकती हैं। किन्तु प्रदीप की तरह जगमगाता हुआ रत्न बुझता नहीं है और इन सुन्दर यक्ष-वनिताओं की चेष्टा अकारथ ही जाती है।]

अलका नगरी के उन रत्नप्रदीपों की भाँति इस रौप्य-नगरी में सोने और चाँदी के निर्धूम अक्षय प्रकाश को भी यदि आज की केवल सुकुमारियाँ घृणा और आत्मग्लानि से दुखी होकर मुट्ठी भर रेत से बुझाने की चेष्टा करें तो इनकी चेष्टा भी अकारथ जायेगी। सोने के इस प्रकाश ने आज की विवश नारी को उसकी देह के अलावा उसके मन से भी अनावृत कर दिया है। और मनुष्य को क्षुद्र, निम्न स्वार्थी और क्रूर बना दिया है, जिसके फलस्वरूप मानवीय अंतर्जगत विषाक्त, हीन, विक्षिप्त और द्वेषी हो गया है। इस तरह के वातावरण में प्रेम, ममता एवं स्नेह आदि ललित भावनाएँ पनप नहीं सकतीं। इसान और इसान के बीच शुद्ध मानवीय प्रेम, वस्तु और अर्थ के अटूट प्रलोभन के कारण अवरुद्ध हो गया है। उसकी सहज अभिव्यक्ति का श्रोत निरुद्ध हो गया है। तब आज की विवश मानवता सिनेमा के सस्ते, कलाविहीन और सौंदर्य-रहित मनोरंजन, कामोत्तेजक रंगीन उपन्यासों की स्वच्छंद्र्खलता और तुच्छ कोटि की जासूसी व ऐयारी कहानियों की अविकसित जिज्ञासायुक्त अवास्तविकता में अपने को भुलाने और क्रूर यथार्थ से पलायन करने की निष्फल चेष्टा में उलझ गई है। इस अराजक पूर्ण भौतिक विकास से ग्रस्त, रागात्मक सम्बन्धों से सर्वथा वंचित मानवता छिछली कामोत्तेजना, प्रमत्त कामोद्वेगों को ही प्रेम के नाम पर स्वीकार करके अपने को भ्रांति में रखने की अकारथ चेष्टा ही में मगन हो गई है। क्षुद्र और हीन वस्तु को प्रेम का सुसंस्कृत सुन्दर नाम देकर अपने को छल रही है। निसन्देह आज के मनुष्य का हृदय पारस्परिक प्यार जैसी उदात्त भावनाओं से शून्य और यांत्रिक हो गया है। पैसों की खन-खन ही उसके विक्षिप्त मन का मधुरतम संगीत है। नारी के प्रति उसका बहु-प्रचारित प्यार वास्तव में क्षणिक कामुकता के सिवाय और कुछ भी नहीं। प्रेम की गहराई और तीव्रता के अभाव में विरह की वेदना भी उसके हीन स्वार्थी मन को विचलित नहीं करती। आज की इस संकटकालीन स्थिति में यक्ष, शकुन्तला, पद्मावती, ऊजळी, भ्रमर-गोपिकाओं, प्रेम-नायिकाओं के प्रेमोल्लास और उनकी

विरह-व्यथा का महत्व तो और भी सहस्र गुना बढ जाता है। इन प्रेम-कथाओ का विरह-सन्ताप हमारे जीवन की कटुताओ को मधुर बनाता है। अर्थ-जाल मे फँसे हुए मनुष्य को मुक्ति का पाठ पढाता है। मानवीयता से वचित मानव को अपने वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति का आभास प्रदान करता है। इसान की जिन्दगी से बिछुडी हुई इसानियत का पुन उससे साक्षात्कार करवाता है। इन प्रेम-कथाओ मे मनुष्य के अतराल की पवित्रतम थाती सचित है जो सदैव अक्षुण्ण बनी रहेगी।

आनन्दोत्थ नयनसलिल यत्र नान्यैर्निमित्तै -
र्नान्यस्ताप कुसुमशरजादिष्टसयोगसाध्यात्।
नाप्यन्यस्मात्प्रणयकलहाद्विप्रयोगपपत्ति -
वित्तेशाना न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति ॥—उत्तर मेघ ४

[वहाँ अलका नगरी मे, हे मित्र! यक्षो की आँखो मे आनन्द के सिवाय कोई अन्य कारण से आँसू नही छलकते, अभिलषित सयोग से निवर्त्तनीय कामजनित ताप के अतिरिक्त वहाँ यक्षो को किसी अन्य ताप का अनुभव नही होता, वहाँ प्रेम की कलह के अतिरिक्त और किसी कारण से उन्ह विरह का सन्ताप नही भोगना पडता और वहाँ यौवन के सिवाय कोई अवस्था ही नही होती।] [यौवन और आनन्द का अखण्ड साम्राज्य है वहाँ!]

लेकिन आज! आज तो इससे बिलकुल विपरीत ही स्थिति है। आँखें निरन्तर आँसुओ से छलछलाई रहती है, लकिन वे प्रेम और आनन्द के आँसू नहीं है। सिवाय प्रेम एव हर्ष के वे शप सभी कुछ के प्रतीक हैं—भूख, दु ख, बीमारी आदि सभी व्यथाओ के सहज परिणाम! ताप, जलन, ज्वाला सर्वत्र व्याप्त है पर वह मानवीय वियोग और विरह-व्यथा की परिचायक नही। मनुष्य और मनुष्य के बीच सवेदना नाम की तो कोई चीज ही नही रही। आज मनुष्य के सतापो की सीमा नही है, पर उनम विरह, सहानुभूति का अश बहुत ही थोडा है। सन्ताप—केवल आर्थिक अभावो का सताप! जवानी के साथ ही बुढापा आ धमकता है। आर्थिक परवशता यौवन को चारों ओर से जकड कर उसे पगु और कुठित बना देती है। बीमारी, जर्जरित-वृद्धावस्था और क्षोभ का आज निर्बन्ध साम्राज्य छाया हुआ है। प्यार और धन के पारस्परिक अन्तर्विरोध ने मनुष्य को मनुष्य से दूर कर दिया है। आपसी मिलन और प्रेम असम्भव नहीं तो कम से कम दुस्वार अवश्य हो गया है। आधुनिक

व्यवस्था मनुष्य के जीवन, प्राण, मानसिक विकास, प्रेम और त्याग के सौदे पर भौतिक वस्तुओं का उत्पादन बढ़ा रही है। यह महंगा सौदा है। मनुष्य के लिए मनुष्य का प्यार ही उसकी सर्वोपरि वस्तु है और प्यार का अभाव ही उसकी विकटतम निर्धनता। निर्धनता की इस विभीषिका से बचते रहने के लिए इन प्रेम-कथाओं का प्रेम-तत्व मनुष्य को निरन्तर सावधान करता रहता है। जिन्दगी के संघर्ष में उसे शक्ति प्रदान करता है। प्रेम-कथाओं में वर्णित प्रेम की सुकोमलता मनुष्य को दुर्बलता की ओर नहीं, निश्चल दृढता की ओर अग्रसर करती है। विरह की गहनतम व्यथा श्रोता या पाठक के मन में सुख और आनन्द का रूप धारण कर लेती है। ऐसा आनन्द कि जिसका उद्भव व्यथा से होता है। इन प्रेम-कथाओं का यह विरोधी तत्व मनुष्य के जीवन में सगति और समन्वय की सृष्टि करता है। मानस का परिमार्जन करके उसे उदार और उदात्त बनाता है।

टोळी सू टळताह, हिरणा मन माठा हुवै,
वाल्हा विछड़ताह, जीणो किण विध जेठवा।

जब पशु-जगत में भी आपसी विछोह उनके मन को खोचता है, हिरणों का मन अपनी टोली से दूर होते हुए जब दूर नहीं होना चाहता तब एक मनुष्य के लिए यह क्योंकर सम्भव हो कि अपने प्रियतम के बिछुड़ने पर वह जिंदा रह सके।

नैणा नेह छिपाय, जिऊ किता दिन जेठवा।

नयनों में नेह को छिपा कर बाह्य-जगत के सारे द्रव्य-वैभव को पाकर भी क्या हृदय की वेदना को शात किया जा सकता है? मानव के अंतराल में सोये हुए मौन प्रेम का एक मात्र उत्तर है—नहीं। प्यार बदले में केवल प्यार चाहता है। ममता का सीधा और न्यायपूर्ण लेन-देन ममता से है। भावना के बदले वस्तु का सौदा मानवीय दयनीयता का परिचायक है। भावनाओं के अतुलनीय ऐश्वर्य को किसी भी बहुमूल्य भौतिक वस्तु से खरीदा नहीं जा सकता। ऊजळी प्यार के बदले में प्यार का यह अधिकार लेकर ही जेठवा के पास गई। लेकिन राजकुमार जेठवा प्यार के उस अधिकार का ठीक से मूल्यांकन नहीं कर सका। साधारण मनुष्यों की सहज प्रक्रियाओं से राजकुमार की चेतना ऊपर होती है। राज सत्ता प्यार के बल पर नहीं, दंड के बल पर सचालित होती है। सही है कि विचार और भावना क्रिया का मार्ग-दर्शन करते

हैं, फिर भी वह क्रिया है—जो चेतना को जन्म देती है। इसीलिए राजकुमार जेठवा की चेतना दरबारी मान्यताओं, राजसत्ता की प्रशासनिक क्रियाओं का ही परिणाम थी। राजा के दिल मे क्रूरता के स्थान पर प्रेम का प्रादुर्भाव हो जाय तो राज्य का सचालन नही हो सकता। समस्त मानवीय गुणों का अभाव ही राजा का एकमात्र गुण होता है। इसान जब पूर्णतया मर जाता है तभी उस भौतिक देह के भीतर राजा का जन्म होता है। लेकिन ऊजळी की नारी देह के भीतर मानवीय भावनाएं अकृत्रिम रूप से विद्यमान थी। उसका प्यार बदले मे प्यार चाहता था, सौदा नही। किन्तु इसके विपरीत राजकुमार जेठवा को प्यार के बदले मे राज्य का सौदा इतना मँहगा पडता था कि जिसकी कल्पना भी उसे मान्य नही थी। राजमहल के सामने विलाप करती हुई ऊजळी का विश्वास और उसकी आशा ध्वस्त हो गई तो उसने अपने प्रेमी राजकुमार को उलहना देते हुए कहा—

आव्या आशा करे, निराश ऐने तो वाळियें,
तब डुळ टुकारे, भोठप भाभी भाँणना।

[जो आशा-भरे हृदय से आता है उसे निराश होकर लौटना शोभा नहीं देता। हे भाण जेठवा के पुत्र, तुम्हारी ऐसी तुच्छता से मुझे लज्जा आती है।]

लेकिन जिन राजमहलो की गर्वोन्नत उच्चता के सम्मुख जेठवा के विश्वासघाती प्रेम को ऊजळी जितना तुच्छ करके मान रही थी, वह तुच्छता ही तो जेठवा की दृष्टि मे सर्वोच्च मान्यता थी, जिसने उसके प्रेम को नियन्त्रित कर रखा था। उसने ऊजळी को बार बार यही समझाने की चेष्टा की कि वह प्रेम की भूख को सदा के लिए बिसार दे। यह नितान्त बावलापन है। पेट की भूख—हाँ यही तो दुनिया मे एकमात्र सच्चाई है। इस सच्चाई की ज्वाला से वह जब कभी सतप्त हो, निसकोच धूमली नगर चली आये। राजकुमार जेठवा उसकी सभी भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने का वचन देता है। प्रेम का कौल न भी पूरा हुआ तो कोई बात नही। उस कौल के बदले मे यदि गरीब ऊजळी को ये सुविधाएँ हासिल हो जाती हैं तो वह लाभ ही मे रहेगी।

कण ने दाणा कोय, भण्य तो दऊ गाडा भरी,
हैये भूलू होय, तो आभपरे आवे ऊजळी।

यदि ऊजळी कहे तो जेठवा उसे अनाज की गाडियां भर कर दे सकता है।

और भविष्य में भी वह जब कभी भूखी हो तो वह निसंकोच यहाँ आकर धान ले जा सकती है। आखिर जेठवा ने उसके साथ प्यार जो किया है। उसके साथ कई दिनों तक प्रणय-क्रीड़ाएँ जो की हैं। वह इतना कृतघ्न नहीं कि उन प्रणय-क्रिड़ाओं को भूल जाये। ऊजळी, यदि वह चाहे तो उसे खजाने से धन मिल सकता है। जमीन-जायदाद मिल सकती है। ऊजळी भी आखिर कोई नादान बालिका तो है नहीं। अपना नफा-नुकसान सोचने की उसकी भरपूर उम्र हो गई है।

अन्त में एक नेक व कीमती सलाह जेठवा ने ऊजळी को और भी दी—

आया थी जाने ऊजळी, नवे नगर कर नेह,
जाने रावळ जामने, छोगाळो न दे छेह।

यदि ऊजळी को अनाज नहीं चाहिए और केवल राजा से ही विवाह करने को वह आतुर हो तो वह सुखपूर्वक नवानगर के राजा रावळराम से अपना प्रेम प्रकट करे। रसिक राजा ऊजळी को धोखा नहीं देगा। ऊजळी की साध अवश्य पूरी होगी।

एक प्रेमी राजकुमार अपनी प्रेमिका को इससे बढ़िया और क्या नेक सलाह दे सकता है? लेकिन बावळी ऊजळी ने इन नेक सलाहों पर बिलकुल गौर नहीं किया। उसका प्रेमी मन तो प्यार के बदले में केवल प्यार चाहता था। न अनाज से भरी गाड़ियों की उसे चाह थी और न राजा रावळराम से विवाह करने की तमन्ना। वह तो जिससे प्रेम करती थी उसीसे शादी करना चाहती थी। उसीके साथ एक आर्थिक व सामाजिक इकाई में बँधना चाहती थी। उसकी दृष्टि प्रेम और विवाह को विच्छिन्न करके देख ही नहीं सकती थी।

आज भी हर ऊजळी के सम्मुख धान की भरी गाड़ियाँ और राजा रावळराम से विवाह करने का प्रलोभन कदम-कदम पर अपने विभिन्न रूपों में प्रकट होता है और मन मार कर अपने ही हाथों से अपने प्यार का गला घोंट कर अनाज से भरी गाड़ियों व राजा रावळराम को स्वीकार करना पड़ता है। पेट की भूख सभी ललित भावनाओं और उदात्त विचारों को पचा कर नष्टप्राय कर डालती है।

करीब-करीब सभी प्रेम-कथाओं में विश्वासघात, निष्ठुरता, कृतघ्नता आदि के हीन प्रसंग विद्यमान रहते हैं, लेकिन श्रोता और पाठकों पर इतना प्रभाव

सर्वथा उलटा ही पडता है। प्राकृतिक दुर्बलताओं की स्पष्ट अभिव्यक्ति विरोधी दिशा मे अपना प्रभाव दर्शाती है। वह हमे दुर्बलताओ के प्रति जागरूक व सजग बनाती है। स्वय कथा को भी इस तरह के निष्ठुर प्रसग दृढ और प्रभावशाली बनाते है। उन हीन चित्रणो से ही हीन भावनाओं का उन्मूलन होता है। प्रेम-कथाओ के द्वन्द्वात्मक चरित्र की यह अपनी विशेषता है।

नारी की देह पाकर भी ऊजळी केवल नारी मात्र नही है। वह एक प्रेमिका है—विशुद्ध प्रेमिका! नारी देह की तृप्ति के लिए दुनिया मनुष्यो से भरी पडी है। पर इन अगणित मनुष्यो की भीडभाड मे उसका प्रेमी तो केवल एक ही है। उसके मन का प्रेमी ही उसके शरीर का उपयोग कर सकता है।

आवै और अनेक, ज्या पर मन जावै नही,
दीसै तो बिन देख, जागा सूनी जेठवा।

अपने प्रेमी के अभाव मे ऊजळी को सर्वत्र इस मनुष्य-जगत मे सूना-ही-सूना दिखलाई पडने लगा। केवल पशु और पक्षी जगत मे उसे आदर्श दिखलाई दिये। केवल उनका प्रेम ही प्रम की प्रदीप्त लौ को प्रज्वलित रखेगा—

सारस मरता जोय, सारसणी मरसी सही,
लाखीणी आ लाय, जग मे रहसी जेठवा।

यह कैसी विडम्बना है कि पशु पक्षियो का प्रम मनुष्य के लिए आदर्श की वस्तु बन गया। मनुष्य को प्रेम की मिसाल के लिए पशु जगत की ओर दयनीय दृष्टि से निहारना पड रहा है। मनुष्य का अतर्जगत इतना निर्धन कैसे हो गया? सारस को मरते देख कर निश्चित रूप से सारसणी मरेगी। जब उसके जीवन का एक मात्र आधार ही मिट गया तो वह कैसे जीवित रह सकेगी। दुनिया का कोई भी भौतिक ऐश्वर्य प्रेम की अनमोल लौ को बुझा नही सकता।

जग मे जोडी दोय, सारस नै चकवा तणी,
तीजी मिळी न कोय, जो-जो हारी जेठवा।

मनुष्य के इतने लम्बे-चौडे ससार को छान मारा, कही भी दो प्रेमियो की अमिट जोडी दिखाई न दी। दुनिया युगो से प्रेम की दो युगल जोडियो की साक्षी रही है—एक सारस और दूसरा चकवा। ऊजळी की सतप्त आँख भी निहार-निहार कर हार गई पर उसे तीसरी जोडी दिखाई न दी—क्योंकि आर्थिक परवशता और सामाजिक बन्धनो ने उसके मिलन व उसकी दाम्पत्य

भावना को मण्डित कर दिया था, इस कारण सर्वत्र विलगाव और विभेद दृष्टिगोचर होना ही उसके लिए स्वाभाविक था।

यहाँ यह निर्देश करना भी असंगत न होगा कि चकवा, सारस, चातक और हिरण आदि ये काव्य-प्रतीक केवल मानव-हृदय की गहनतम अनुभूतियों को व्यंजित करने के संकेत मात्र हैं। मानवीय जगत पर पशु-जगत की श्रेष्ठता को स्थापित करने की खातिर इन विचित्र उदाहरणों की पुष्टि के द्वारा किसी भी तरह की *प्रामाणिकता सिद्ध करना इन काव्य-प्रतीकों की कभी मंशा नहीं रही।* पशु-पक्षियों और मनुष्यों की यह पारस्परिक तुलना पशु-जगत की मानवीय जगत से श्रेष्ठता की बोधक नहीं है। अपनी वैयक्तिक प्यार-भावना के अभाव को तीव्र और गहन रूप देने के लिए ये काव्य प्रतीक केवल निमित्त मात्र हैं और जीव-शास्त्र के अनुसार परख करने पर तो यह बात बिलकुल साफ हो जाती है कि प्रेम और ममता के क्षेत्र मे मनुष्य पशु से सदैव श्रेष्ठ रहा है और *श्रेष्ठ है भी। पशुओं में कुछ उदाहरण ऐसे मिल सकते हैं जिनसे नर और* मादा के पारस्परिक लगाव व आकर्षण की गहनता प्रकट होती है। परन्तु फिर भी उस गहनतम आकर्षण के लिए पशुओं को इसके लिए श्रेय नहीं दिया जा सकता। क्योंकि उनका यह सहज लगाव केवल प्रकृतिगत एक जन्मजात प्रक्रिया है सजग चेतना का परिणाम नहीं। इसके विपरीत मनुष्य की प्यार-भावना उसकी अपनी सृष्टि है, प्रकृति की अचेतन प्रक्रिया मात्र नहीं।

क्योंकि सामाजिक सम्बन्धों के सभी सावेगिक तत्व— प्रेम, श्रद्धा, भक्ति, ममता, स्नेह, वात्सल्य, मोह आदि मनुष्य की अपनी सृष्टि हैं—इसलिए मनुष्य के विकास के साथ इन समस्त रागात्मक सम्बन्धों मे भी विकास और परिवर्तन होता रहा है। इनका स्वरूप कभी एक सा नही रहता। सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों के बदलने के साथ ये तमाम सावेगिक तत्व भी बदल और विकसित हुए हैं। व्यक्ति के सावेगिक तत्व और सामाजिक सम्बन्धों के संघर्ष से ही उसका अन्तर्जगत निर्मित होता है और यह निरन्तर संघर्ष ही समाज के विकास की अन्तहीन कहानी है।

समाज के विकास की इस अन्तहीन कहानी से प्रेम कोई स्वतन्त्र या जुदा वस्तु नही है। इसलिए उसकी भौतिक और मूर्त सत्ता है। उसे कोई अमूर्त्त या नैसर्गिक वस्तु मानना वास्तविकता को अस्वीकार करना है।

साधारणतया सभी प्रकार के प्रीति-सूत्र, सावेगिक या रागात्मक सम्बन्धो को प्रेम की सज्ञा दी जाती है। इस प्रचलित भ्राति को स्पष्ट करने के लिए केवल इतना ही समझना आवश्यक है कि शब्द—किसी भी विचार, भावना व मूर्त्त अमूर्त्त यथार्थ के प्रतिबिम्ब या प्रतिरूप नही होते। केवल सकेत मात्र होते है—अपूर्ण सकेत। भाषा के इस प्रकृत दुर्बल पहलू को ठीक से समझने पर शब्द के वास्तविक स्वरूप का स्पष्टीकरण हो जाता है।

एक ओर तो भाषा की यह प्रकृत निर्बलता और दूसरी ओर हमारे अन्तर्मन का समान मध्यवित्ती स्नायु केन्द्र। समस्या और भी विकट हो जाती है। व्यक्ति और विभिन्न तत्वो का पारस्परिक सम्बन्ध, मूल अतस प्रवृत्ति की बाह्य व्यजना को विभिन्न रूप प्रदान कर देता है। लेकिन भाषा की निबलता के कारण उन सभी विभिन्न स्वरूपो को विभिन्न शब्दो स सम्बोधित करना सम्भव नही होता। इसीलिए विचारो और भावनाओ के प्रति भ्रान्ति की उत्पत्ति स्वाभाविक हो जाती है। सभी प्रकार के प्रीति सम्बन्धो के बारे मे यह बात तो निश्चित ही है कि प्रीत के लिए किसी न किसी आलबन का होना अनिवार्य है। प्रम अकेले नही होता, वह अन्य व्यक्ति के माध्यम से अपनी प्राण प्रतिष्ठा ग्रहण करता है। आलबन की भिन्नता के साथ-साथ स्थान, समय, स्थिति की भिन्नता के फलस्वरूप एक व्यक्ति के विभिन्न व्यक्तियो के साथ अनेको रागात्मक सम्बन्ध होते हैं। मूल अतस प्रवृत्ति एक होने पर भी आलबन के बदलने पर पारस्परिक सम्बन्ध विशेष मे भी तब्दीली आ जाती है। सपर्क की विभिन्नता से ही गुण का निर्माण होता है। यदि इकाइयाँ भिन्न हैं तो गुण कैसे समान हो सकता है? सपर्क के सयोग की विभिन्न अवस्थाओ के अनुरूप सपक की वियोगावस्थाएँ भी विभिन्न होती है। और वियोग की अनुभूतियाँ भी सपर्क-विशेष के कारण अनेक प्रकार की होती है। लेकिन शब्दो की मर्यादा अपने सीमित दायरे मे ही इन विभिन्नताओ को अभिव्यक्ति प्रदान करती है। न तो शब्द स्वय यथार्थ है और न वह यथार्थ का निश्चित बोधक ही। वह तो यथार्थ को समझने की एक मानव निर्मित अभिज्ञता है।

यथार्थ को समझने की यह मानवीय अभिज्ञता विकास के दौरान मे सदा बदलती रहती है। इस कारण यथाथ के साथ मनुष्य का सम्बन्ध कभी एक सा नही रहता, वह भी सदा बदलता रहता है। इस निरतर क्रम मे जो शब्द परम्परागत प्रचलन के कारण स्थिर जडता का निश्चित रूप धारण कर लेते

हैं वे यथार्थ के प्रति अपनी अभिज्ञता की शक्ति को खो बैठते हैं। विकास में सहायक होने के बनिस्पत वे उसके बाधक हो जाते हैं। विकास में बाधा उपस्थित करने वाले शब्दों को मनुष्य छोड़ता रहता है। और जो शब्द अपने बाह्य आकार के स्थिर रूप को बना रख कर भी अपने में सन्निहित व्यंजना को बदलते रहने की गतिशीलता कायम रखते है, केवल उनमें ही मनुष्य की निरंतर बदलती हुई भावनाओं को व्यक्त करने की क्षमता शेष रहती है। इसलिए शब्दों के प्रति हमारी धारणा निश्चित और रूढ़िबद्ध नहीं होनी चाहिये। क्योंकि यथार्थ की नई जानकारी और प्रतन-प्रवृत्तियों की विकसित अभिज्ञता का पारस्परिक सम्बन्ध, शब्द में नूतन सांकेतिक तत्व को प्रवहमान करता रहता है।

इसलिए स्पष्ट है कि भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति प्राप्त करने वाला प्रेम-तत्व भी कभी एक-सा नहीं रहा। वह भी सदा बदलता रहा है। प्रेम—विश्व और जीवन का संचालन नहीं करता, बल्कि विश्व और जीवन के द्वारा ही प्रेम का संचालन होता है। परिवर्तित जीवन के हाथों अपना अस्तित्व ग्रहण करने के फलस्वरूप प्रेम में भी परिवर्तन होता रहता है। जीवन और प्रेम का विकसित क्रम द्वैत नहीं अद्वैत है।

केवल शब्द और भाषा ही नहीं, उनके द्वारा अभिव्यक्त होने वाले हमारे परम्परागत प्रेम-काव्य भी, जो निश्चित रूप से एक काव्यात्मक रूप ग्रहण कर चुके हैं, समय के साथ उनके तात्विक विषय में भी थोड़ा-बहुत परिवर्तन हो जाता है। परिवर्तन कोई स्वयं प्रेम-काव्य में नहीं बल्कि शब्दों की सांकेतिक शक्ति के परिवर्तन-स्वरूप एवं वस्तुजगत और अन्तर्जगत की नई अभिज्ञता के कारण नई पीढ़ी द्वारा उन प्रेम-काव्यों को समझने की अनुभूति में परिवर्तन। समय के हिसाब से प्राचीन होते हुए भी भाव ग्रहण करने वाली अनुभूतियों में नवीनता की वजह से ये प्रेम-काव्य उसी निर्धारित शैली में अपना नया रूप ग्रहण करते रहते हैं। प्रेम-कथाओं के द्वन्द्वात्मक चरित्र की यह अपनी दूसरी विशेषता है।

यह स्वीकार कर लेने के बाद कि शब्द यथार्थ का प्रतिरूप नहीं होता, यह तथ्य भी पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है—वास्तविक प्रेम और प्रेम की काव्याभिव्यक्तियों में परस्पर क्या सम्बन्ध है। मनुष्य-जीवन में जो भाषा और शब्द की सार्थकता है, प्रेमियों के जीवन में इन प्रेम-काव्यों की भी ठीक वही सार्थ-

कता है। मनुष्य और भाषा का जो पारस्परिक सम्बन्ध है ठीक वैसा ही प्रेमी के साथ इन प्रेम-कथाओं का सम्बन्ध है। मनुष्य द्वारा निर्मित की जाने पर भी भाषा मनुष्य को पुनः प्रभावित करती रहती है, उसे सशक्त और विकसित करती रहती है, उसी प्रकार ये प्रेम-काव्य भी प्रेमियो को अपने अस्तित्व से प्रभावित करते हैं। प्रभाव की इस क्रिया-प्रक्रिया में निरन्तर दुतरफा विकास होता रहता है। जिस प्रकार भाषा एक बार अस्तित्व में आने पर एक स्वतन्त्र भौतिक शक्ति का रूप धारण कर लेती है और विकास के अपने स्वतन्त्र नियमों द्वारा अनजाने अनुशासित होती रहती है, उसी प्रकार ये प्रेम-कथाएँ भी स्वतंत्र रूप से एक भौतिक शक्ति का काम करती है। स्वयं अपने द्वन्द्वात्मक रूप से इनका विकास होता रहता है जिसमे परिवर्तन और परम्परा दोनो का समान रूप से दखल रहता है। ये प्रेम-कथाएँ विशिष्ट शैली में विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ है। जिस प्रकार शब्द स्वय यथार्थ नही होता, उसी प्रकार शब्दो के माध्यम से अपना जीवन ग्रहण करने वाली इन प्रेम-कथाओ में भी अंतस-प्रवृत्तियो की प्रेम-भावना का वास्तविक चित्रण नही है। ये प्रेम-कथाएँ, प्रेम की प्रतीक नही, बल्कि प्रेम-भावना की अभिज्ञता के काव्यात्मक सकेत चिन्ह है, जिनका स्वतन्त्र रूप से कलात्मक विकास होता रहता है। सामाजिक विकास और मनुष्य-जीवन मे अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होने पर भी यह कहना कि ये प्रेमाभिव्यक्तियाँ वास्तविक प्रेम का हू-बहू चित्रण या सहज प्रतिबिंब मात्र है, सर्वथा अवैज्ञानिक और भ्रान्तिमूलक है। ये प्रेम-काव्य एक तो प्रेमी को अपनी अनुभूतियों का माध्यम प्रस्तुत करती हैं और दूसरी ओर उसके मन में नई अनुभूतियो का सचरण भी करती है, जिससे नये काव्यो की सृष्टि का आधार जुड़ता है। समय और समाज के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध होते हुए भी इन प्रेम-काव्यो का अपना स्वतन्त्र इतिहास है।

प्रेम—एक अत्यन्त सश्लिष्ट क्रिया है। भाषा के बिना जिस प्रकार मनुष्य के अन्य सभी भौतिक या मानसिक विकास सम्भव नही थे उसी प्रकार यदि भाषा नही होती तो प्रेम भी सम्भव नहीं होता। क्योंकि प्रेम मनुष्य की स्वय अपनी सृष्टि है, जिसको उसने अपने सामाजिक जीवन में विकसित किया है। पशुओ की भाँति भाषा के बिना मनुष्यो मे भी प्राकृतिक मैथुन और उससे जुड़ा हुआ जन्मजात अचेतन लगाव निसन्देह रूप से उसकी भौतिक देह में मौजूद रहता, किन्तु मैथुन और प्रेम दोनो एक बात नही है। यह सही है

कि प्रेम में कामासक्ति रहती है, पर इसके विपरीत यह कदापि सही नहीं है कि कामासक्ति में भी प्रेम हो। काम-प्रवृत्ति से उत्पन्न होने पर भी प्रेम काम-भावना से सर्वथा एक भिन्न वस्तु है। केवल भिन्न ही नहीं, अन्तर्विरोधी भी। गुलाब का पौधा जमीन से पैदा होने पर भी, तात्विक गुणों की समानता के बावजूद भी मिट्टी नहीं है। वह मिट्टी से सर्वथा भिन्न वस्तु है। अन्तर्विरोधी भी। मिट्टी में गन्ध है तो उसमें भीनी सुगन्ध। मिट्टी शुष्क है तो वह फूल अत्यन्त सुकोमल। मिट्टी मैली और कुरूप है तो गुलाब का फूल गुलाबी, हरा और सुन्दर है।

प्रेम—मैथुन का सहज परिणाम नहीं है। उसमें तो प्रेम के बनिस्पत हिंसा व क्रूरता का सन्निवेश है। भूख के समान काम भी सौंदर्यरहित, क्रूर और अनियन्त्रित है। सम्भोग के समय काटना, दबोचना और पशुवत हो जाना, यही काम का अपना स्वभाव है। कामासक्ति में केवल मैथुन की ही एक-मात्र अपेक्षा रहती है और क्रिया के पश्चात् भी प्रेम उत्पन्न नहीं होता, बल्कि अरुचि, ग्लानि जैसी हीन भावनाएँ पैदा होती हैं। प्रेम में कामासक्ति की मूल प्रेरणा होते हुए भी उसका अपना स्वरूप और अपना अस्तित्व है।

प्रेम का मूल आधार है—सम्पर्क। निरन्तर साहचर्य, जो नारी में उसकी देह के अलावा लालित्य, गुण, सौन्दर्य और स्वभाव की भी अपेक्षा रखता है। सम्पर्क के बीच उत्पन्न हुए प्रेम को भाषा, कला, काव्य, और सौन्दर्य-बोध की भावना—उच्चता, दृढ़ता, मर्मज्ञता और सुकोमलता प्रदान करती है। काम-प्रवृत्ति मनुष्य को स्वार्थी, हीन, सकीर्ण, तुच्छ और पशुवत् बनाती है। प्रेम मनुष्य को त्याग, उदारता और बन्धुत्व का पाठ पढ़ाता है। त्याग ही प्रेम की कसौटी है। जो प्रेम जितना अधिक गहरा होता है, उसमें त्याग की भावना भी उतनी गहरी और निर्बन्ध होती है। *प्रेम मनुष्य को मनुष्य बनाता है* और उसे ऊपर उठाता है। और *काम प्रवृत्ति मनुष्य को हमेशा पाशविक धरातल पर ही खड़ा रखती है। काम प्रवृत्ति तो मूल रूप में सदैव अपने उसी* आदि रूप में मौजूद रहती है। पर मनुष्य के काम सबध सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों के अनुरूप अपना रूप परिवर्तित करते रहते हैं। प्रेम का सम्बन्ध काम-प्रवृत्ति से इतना नहीं जितना समाज में प्रचलित काम-सम्बन्धों से है। समाज के काम सम्बन्ध तात्कालिक समाज की प्रेम-भावना को जाने अनजाने अवश्य प्रभावित करते हैं। क्योंकि इन सम्बन्धों में परम्परा, नैतिक मान्यता,

नियन्त्रण और सम्पर्क निहित रहता है। मनुष्य मे मूल अन्तस-प्रवृत्तियो का आदिम स्वरूप तो अधिकाशतया वही रहता है पर उनकी बाह्य व्यंजना का समाज के द्वारा सस्कार होता रहता है।

ऊजळी के नारी-हृदय की प्रेम-भावना या उसकी विरह-वेदना केवल पुरुष देह की ही कामना नही करती बल्कि उसकी वेदना में काम की भूख के बजाय प्रेम की तृष्णा अधिक है। उसका यौवन काम को अस्वीकार नही करता बल्कि स्पष्ट शब्दो में उसकी चाहना भी करता है, परन्तु उसकी वह चाहना केवल प्रेमी के द्वारा ही सम्पन्न होना चाहती है। ऊजळी के यौन-प्रेम की खातिर निरा पुरुष होना ही काफी नही है—प्रेमी होना उसकी पहली शर्त्त है। उसका नारी-हृदय जेठवा के अन्यथा किसी को भी पुरुष-रूप में स्वीकार नही करना चाहता—

जोबन पूरे जोर, माणीगर मिळियो नहीं,
सारै जग में सोर, जोगण हुयगी जेठवा।

यहाँ एक बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न उठ खड़ा होता है। वह यह कि ऊजळी की इस विरह-व्यथा, उसकी विरक्ति और उसके त्याग में प्रेम का दखल अधिक है या तात्कालिक अवस्था की सामाजिक परवशता। उसका प्रेम-प्रदर्शन उसके स्वतंत्र मन की स्वतत्र अभिव्यक्ति है या रूढ़िबद्ध मान्यताओ में जकड़े हुए उसके नारी-हृदय का मूक रोदन। जिन धर्म-शास्त्रो ने सदियो से डके की चोट—'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति', 'अस्वतन्त्रता स्त्री पुरुष प्रधाना' और 'अस्वतन्त्रा धर्मे स्त्री' का निरतर प्रतिपादन किया है, क्या उसीकी अचेतन स्वीकृति ऊजळी की चेतना मे मुखर तो नही हो उठी? क्या धर्म-शास्त्रो द्वारा प्रतिपादित सामाजिक परवशता ही को ऊजळी ने अपनी एक मात्र स्वतन्त्रता नही मान लिया? यह ऊजळी के स्वच्छन्द मन की निर्बन्ध आत्माभिव्यक्ति है या शास्त्रकारो द्वारा प्रताड़ित नारी पर निरतर विजय का निर्भीक उद्घोष?

इस प्रश्न का उचित समाधान पुरुष-प्रधान समाज मे आज दिन भी नही हो पाया है। नारी की आर्थिक परवशता और उसकी स्वतन्त्रता को विच्छिन्न करके देखना असंभव नही तो मुश्किल अवश्य है। आर्थिक रूप से पूर्णतया स्वतन्त्र हुए बिना नारी अपनी स्वतन्त्रता को प्राप्त नही कर सकती, यह निर्विवाद रूप से सही है। और इसके साथ-साथ यह भी असदिग्ध रूप से सत्य है कि आर्थिक बन्धनो से सर्वथा मुक्ति पा जाने के बाद दाम्पत्य जीवन का एक-

साथ सूत्र केवल प्रेम ही रहेगा। तब विवाह के लिए प्रेम के सिवाय और कोई आधार मान्य नहीं होगा।

नारी के शोषित जीवन के साथ उसका शोषित प्रेम तभी पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करेगा जब वह घर की चहार-दीवारी को लाँघ कर समाज के मुक्त आँगन में प्रवेश करेगी। उसके समस्त कार्यों को, पारिवारिक उपयोगिता के संकीर्ण व हीन महत्व से ऊपर उठा कर जब उन्हें सामाजिक उपयोगिता का सर्वोपरि महत्व प्राप्त होगा, तभी उसका चिर-बन्दी जीवन वास्तविक मुक्ति का अनुभव करेगा।

इस मुक्ति के लिए नारी को पुरुष का अनुकरण करने की आवश्यकता नहीं होगी। समानता—कार्यों की समानता न होकर आर्थिक व सामाजिक समानता होगी, तब महत्व कार्यों के बँटवारे का इतना न रह कर उनकी सामाजिक मान्यता को अधिक रहेगा। नारी जब अपनी इस स्वतन्त्र स्थिति को प्राप्त कर लेगी तब एकनिष्ठता का दावा पुरुष के हिस्से में भी उसी अनुपात से आयेगा जितना नारी के लिए है। दाम्पत्य जीवन में बँधने की सामाजिक इकाई के लिए किसी भी बाह्य शक्ति का दखल न होकर केवल अन्तर्मन के प्रेम का दावा ही मान्य और नैतिक समझा जायेगा। केवल प्रेम ही के बल पर तब उजळी अपने प्रेमी जेठवा को सहज ही प्राप्त कर सकेगी। समाज की कोई भी बाहरी ताकत उसके प्रेम पथ में बाधा बन कर खड़ी नहीं होगी। प्रेमी के वियोग में तब किसी को चदन-माला हाथ में लेकर जोगन बनने की आवश्यकता नहीं होगी। सती बन कर जलने की कल्पना भी तब सम्भव नहीं होगी। प्रेम की नैतिकता ही विवाह की नैतिकता का एकमात्र प्रमाण होगी।

दुनिया के सभी धर्म-शास्त्रों में नारी के विश्वासघाती चरित्र को लेकर जितनी भी शास्त्रसम्मत उक्तियाँ प्रचारित की गई हैं वे नारी-चरित्र की वास्तविकता न होकर पुरुष के अपने ही स्वभाव की हीन और विकृत मनोदशा का प्रतिबिंब हैं। नारी पुरुष से कहीं अधिक स्वभाव में एकनिष्ठ होती है। वह शास्त्रों के बल पर अंगीकार किये हुए पति के साथ विश्वासघात कर सकती है, किन्तु अपने मन से वरण किये प्रेमी के साथ कभी धोखा नहीं कर सकती।
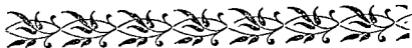
कविता की कहानी

भाषा से मनुष्य पुराना है। और मनुष्य से भी मनुष्य की मेहनत पुरानी है। मनुष्य आज जिस रूप मे है, उसके इस मानव रूप का निर्माण प्रकृति के हाथो नही, मेहनत के हाथो हुआ था। प्रकृति की ओर से दी हुई शारीरिक शक्ति की तुलना मे अन्य जगली, हिंस्र जानवरो की अपेक्षा मनुष्य कितना कमजोर है, कितना अशक्त है। कहाँ—सिंह, हाथी, सूअर, रीछ, चीता, गेंडा, जगली भैंसा—और कहाँ मनुष्य? इस हिसाब से प्रकृति ने मनुष्य को अपनी ओर से बहुत कम ताकत बख्शी है। पर चलने-फिरने के काम से सर्वदा के लिए मुक्ति पाये हुए उन स्वतत्र हाथो से जब मनुष्य ने पहली बार अपनी मुट्ठियाँ तान कर, कमर को सीधा करके नभ की ओर अपना सिर ऊँचा किया होगा—यदि लाक्षणिक शैली मे कहना चाहें तो कहना पडेगा कि उसकी उस बलवती मुद्रा को देख कर स्वय प्रकृति भी भय से कॉप उठी होगी। हाथो और पैरो का वह अतिम बँटवारा ही मनुष्य की सबसे बडी शक्ति बन गया। मनुष्य के ये दो हाथ, जो आज मेहनत करने के लिए शारीरिक अग मात्र रह गये है आरम्भ मे स्वय मेहनत के हाथो ही इनका निर्माण हुआ था।

मनुष्य के हाथो की कुशलता व उनकी मजबूती केवल हाथो तक ही सीमित नही रही। आपसी सहयोग से शरीर के हर हिस्से की योग्यता व शक्ति बढती रही। मस्तिष्क की चिंतन-शक्ति भी इन्ही हाथो की मेहनत का परिणाम है। हाथ कुशल हुए तो मस्तिष्क की विचार-शक्ति बढी। मस्तिष्क की विचार-शक्ति बढी तो हाथ और भी अधिक कुशल हुए। हाथ और मस्तिष्क का वह पारस्परिक सम्बन्ध दिनदिन होता ही गया। और इस विकासक्रम मे मस्तिष्क और

हाथ यहाँ तक कुशल हो गये कि जिनकी पारस्परिक निर्भरता ने अजंता और एलोरा की गुफाओं का सृजन कर डाला। सांची और भरहुत के स्तूप का निर्माण कर डाला इन्होंने। जो हाथ एक दिन अपनी आदिम अवस्था में पत्थर का एक अनघड़ औजार तक बनाने में अक्षम थे, उन्हीं हाथों ने आखिर ताजमहल और कोणार्क के मन्दिरों का निर्माण कर सकने योग्य क्षमता हासिल करली।

मेहनत और हाथों के बाद मनुष्य के सांस्कृतिक व सामाजिक विकास-क्रम में जिस शक्ति का सबसे जबरदस्त योग रहा, वह है—मानवीय वाणी। वाणी के रूप में मनुष्य ने एक ऐसे औजार की सृष्टि कर डाली कि उसकी शक्ति पहिले से लाख गुना अधिक बलवती हो उठी। जब चलने की क्रिया से हाथ एकबारगी हमेशा के लिए स्वतंत्र हो गये तो मनुष्य को पेड़ों का निवास छोड़ कर जमीन का आश्रय ग्रहण करना पड़ा। हिंसक पशुओं का सामना करने के लिए अपने साथियों के साथ उसे समूह बना कर रहने की आवश्यकता हुई। और जब मनुष्य समूह के बीच रात दिन अपना जीवन बिताने लगा तो एक-दूसरे को कुछ कहने की इच्छा महसूस हुई। इच्छा ने अपनी जरूरत के मुताबिक उपयुक्त उपकरण को निर्मित किया। मनुष्य की वाणी कुछ गिने-चुने संकेतों में मुखरित हुई। वाणी के साथ-साथ श्रवण-शक्ति को विकसित होना पड़ा। वाणी और श्रवण-शक्ति के मिश्रित योग से तो मस्तिष्क के विकास की सीमा ही नहीं रही।

दुनिया में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो औजारों का प्रयोग करता है, और उसकी अपनी स्वनिर्मित भाषा है। पशु और मनुष्य में इन दो विभिन्नताओं के अन्यथा सबसे महत्वपूर्ण एक तीसरा फर्क यह भी है कि पशु अकेला है, मनुष्य संगठित है। वह समाज बना कर रहता है। पशु केवल अपनी ही शक्ति, अपने ही निजी अनुभव और अपने ही माद्दे पर हर वस्तु का सामना करता है, लेकिन मनुष्य पिछली सारी पीढ़ी और समस्त युगों के अनुभव से फायदा उठाता है। पिछली पीढ़ी के अनुभव, ज्ञान और विकास की सीमान्त रेखा से हर नई पीढ़ी अपना जीवन प्रारम्भ करती है और आने वाली पीढ़ी को वह अपने अनुभवों की थाती सौंप जाती है। तो मानव समाज का इतिहास, मनुष्य के जन्म-जात प्राकृतिक तत्वों के विकास का ब्यौरा नहीं, बल्कि उसकी सामाजिक व सांस्कृतिक शक्तियों के विकास की धारावाहिक कहानी है। संस्कृति कोई आकाश-कुसुम जैसी चीज नहीं है। वह मनुष्य के आर्थिक कार्य-

व्यापारो से ही सपन्न होती है। उत्पादन के तरीको का विकास, औजारो को प्रयोग मे लाने के कौशल का विकास, भाषा, कला व विज्ञान का विकास और भवन-निर्माण का विकास—यही तो है संस्कृति जो मनुष्य के अपने ही बल-बूते पर विकसित हुई है और होती रहेगी। आर्थिक कार्य-व्यापारो का अर्थ भी रुपये या धन तक मर्यादित नही समझना चाहिये। रुपये या धन की महत्ता तो केवल इसलिए है कि वह जीवन की सम्पूर्ण आवश्यकताओ को खरीदने का एक सर्वमान्य साधन है। और जब तक इस साधन को किसी एक विशेष आवश्यकता मे परिणित नही कर लिया जाता, तब तक उसमे सभी आवश्यकताएँ अभिनिहित रहती हैं।

आवश्यकताओ की निर्विरोध और निर्बंध पूर्ति ही मनुष्य जीवन की स्वतत्रता है। इस स्वतत्रता के लिए ही तो उसका यह अविराम परिश्रम है। काम, काम। दिन भर काम। फिर काम। किसी न किसी काम मे मनुष्य व्यस्त है। बिना काम के उसे चैन नही। उसकी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए जो भी बाधित बाधा बन कर आयेगी उसे हटा कर ही वह दम लेगा। वह बाधा चाहे प्रकृति के रूप मे हो, चाहे समाज के रूप मे। मनुष्य अपनी आवश्यकताओ की निर्बंध पूर्ति चाहता है। यही उसका लक्ष्य है। यही उसकी स्वतत्रता है। और यह स्वतत्रता ध्यान, कल्पना व मनन से प्राप्त नही की जा सकती। उसके लिए क्रिया केवल क्रिया ही अपेक्षित है। क्रिया का सचालनकर्त्ता है—मनुष्य। मनुष्य—जो समाज मे रहता है। समाज—जो सतत गतिशील है। और मनुष्य के पास इस सचालन-कार्य के लिए साधन हैं—उसकी कला और उसका विज्ञान। कला और विज्ञान ही मे मनुष्य अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति पाता है।

वस्तु और जगत से मनुष्य का जो सम्बन्ध है, उसको अभिव्यक्ति मिलती है—विज्ञान मे। वस्तु और जगत का मनुष्य से जो रिश्ता है, उसकी व्यजना होती है—कला मे। प्रकृति के साथ निरतर सघर्ष मे मनुष्य अपनी स्वतत्रता ही को खोज रहा है। सघर्ष की बाह्य वस्तु-स्थिति तो जन्म देती है—विज्ञान को। और इस सघर्ष द्वारा मनुष्य की चेतना मे जो आशिक प्रक्रिया होती है, उसकी आत्म स्थिति जन्म देती है—कला को। मैक्सिम गोर्की के शब्दो मे—कला और विज्ञान दोनो एक सर्वथा नवीन ही प्रकृति का निर्माण करते है। विज्ञान की यह नूतन प्रकृति अपना जीवन ग्रहण करती है—बाहरी यथार्थ मे।

और कला की नूतन प्रकृति अपना जीवन ग्रहण करती है—मनुष्य के आन्तरिक यथार्थ से। पर विज्ञान और कला इन दोनों का क्षेत्र कभी सीमित नहीं रहता। समाज का विकास निश्चित रूप से अपनी कला और अपने विज्ञान को प्रभावित करता है।

आदिम मानव के जीवन में विविधता नहीं थी, इसलिए उसकी कला और उसके विज्ञान में भी कोई वैविध्य नहीं था। आदिम मानव के लिए जो कला थी वही उसका विज्ञान भी था। धर्म भी उसका वही था। न संगीत कविता से भिन्न था और न नृत्य संगीत से। आदिम मानव के आतरिक भाव-जगत को व्यक्त करने के लिए कविता ही काफी थी। आज की इस सभ्यता के युग में धर्म, दर्शन, मनोविज्ञान, जीव-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, उपन्यास, नाटक, कहानी आदि के साथ कविता का जो प्रचलित रूप है, वही आदिम समाज में सामूहिक प्रतिभा को व्यजित करने का एकमात्र साधन था। सम्पूर्ण भारतीय दर्शन कविता की पंक्तियों में बद्ध है। ज्योतिष के आँकड़े भी कविता के माध्यम से व्यक्त हुए है। मनुस्मृति का समाज-विधान भी कविता की लय में जकड़ा हुआ है। आयुर्वेद ने अपना उपचार किया है तो वह भी कविता के सहारे। धर्म का आदेश कविता में है। राजनीति की चर्चा कविता में है। अर्थ-शास्त्र का लेखा-जोखा भी कविता में है। मानव-सभ्यता के आदि-ग्रन्थ वेदों का माध्यम भी कविता ही है। उपनिषदों के ब्रह्म का स्वरूप-निर्माण भी कविता ने ही किया है। आदिम समाज में सामूहिक ज्ञान की बाह्य-व्यंजना के लिए सिवाय कविता के और कोई चारा ही न था। और आज की वास्तविकता यह है कि समाज में बाहुल्य और वैविध्य के कारण कला, धर्म और विज्ञान का भिन्न रूप तो अवश्यम्भावी था ही पर कविता की एकरूपता भी स्वय में खंडित हो गई। वर्ग-विभाजित समाज में उसके भी दो हिस्से हो गये। लोक-काव्य एक दूसरी चीज है, और कविता दूसरी। आदिम समाज की वह अभिन्नता ही न तो सयोग मात्र थी और न आज के युग की यह भिन्नता ही एक सयोग है। दोनों ही परिस्थितिजन्य है।

आज के सभ्य मानव का भाषा के साथ जो बर्ताव है, आदिम मानव का वाणी के प्रति यह बर्ताव बिलकुल नहीं था। आदिम मानव जैसा अनुभव करता था, उसको ठीक उसी रूप में सहज भाव से व्यक्त भी करता था। वाणी का प्रयोग केवल सत्य को व्यजित करने के लिए ही किया जाता था। जो

सत्य था, वही उसकी वाणी मे भी था। और जो वाणी मे था, वही उसका सत्य भी था। मिथ्या बात को भी व्यक्त करने की आवश्यकता होती है, आदिम मानव को इसका ज्ञान कतई नही था। पर आज के सभ्य मानव के लिए सत्य की अपेक्षा मिथ्या को व्यक्त करने के खातिर ही भाषा की अधिक आवश्यकता है। आज सत्य को छिपाने के लिए ही भाषा का प्रयोग है। सत्य को अभिव्यक्ति देना तो भाषा के लिए गौण हो गया है। पर आदिम मानव की जीवन-आवश्यकता ही ने वाणी को जन्म दिया था, इसलिए वाणी उसके जीवन से कोई भिन्न चीज नही थी। जो आदिम मानव के जीवन मे नही था वह उसकी वाणी मे भी नहीं था। इसलिए आज दिन भी आदिम मानव की उस वाणी को बाँचने से उसके जीवन को भी आसानी से बाँचा जा सकता है।

लिपि बद्ध भाषा से मानवीय वाणी का रूप तो प्राचीन है ही लेकिन आदिम मानव के लिए वाणी की 'जीवन आवश्यकता' को ठीक से समझ लेने पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वार्तालाप की साधारण बोली से कविता का रूप और भी प्राचीन है। कविता मे लय और गति होती है। छद होता है। गति, लय और छद से वाणी मे एक रहस्यात्मक अदभुत शक्ति का प्रभाव उत्पन्न हो जाता है जो समूह के आतरिक भाव-जगत् मे तादात्म्य स्थापित करने का सहज और अकृत्रिम साधन है। आदिम समाज मे वाणी एक सामूहिक उपज थी। एक सामूहिक आवश्यकता थी। और सामूहिक आवश्यकता के लिए लय और गति बद्ध वाणी अधिक उपयुक्त है। सगीत से जुदा होकर वाणी सामूहिक आवश्यकता को पूरा नही कर पाती। इसलिए आदिम-कविता और सगीत कोई दो भिन्न चीज नही है। कविता मे प्रयुक्त शब्द उसकी विषय वस्तु को निर्मित करते थे और लय, गति व सगीत कविता की रूप-सज्जा को सँवारते थे। वार्तालाप की साधारण बोली के माध्यम से एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से अपने विचारो का आदान प्रदान करता है। व्यक्ति केवल व्यक्ति से ही मिल पाता है। पर कविता की इस सगीतात्मक वाणी के माध्यम से एक सामूहिक भाव-जगत् का पारस्परिक मिलन होता है। कविता एक सामूहिक माध्यम है और कथोपकथन की बोली एक वैयक्तिक साधन। कविता का सगीत रूप सामूहिक सवेदना को उद्भासित करता है।

प्रश्न यह उठता है कि आदिम मानव के लिए सामूहिक सवेदना को उत्प्रेरित करने की वैसी आवश्यकता ही क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते समय

हमेशा इस बात की सावधानी बरतनी चाहिए कि इस 'आवश्यकता' को आदिम मानव की जिन्दगी से बाहर न टटोला जाय। आज के इस वैज्ञानिक युग में समाज के बीच रह कर भी एक व्यक्ति अकेला जी सकता है। वह निर्जन एकान्त में सुख और आनन्द की लालसा के पीछे दौड़ सकता है। और उसके लिए यह समय भी है। पर आदिम-मानव के लिए तो समूह ही उसकी जिन्दगी है। वह अकेला मर सकता है लेकिन अकेला जी नहीं सकता। सामूहिक जीवन की अनिवार्यता पानी, रोटी और हवा की तरह उसकी जिन्दगी और मौत की समस्या है। प्रत्येक वस्तु-स्थिति का आदिम मानव सामूहिक रूप से सामना करता है। 'जब कभी भूकंप, ज्वालामुखी, बिजली आदि के रूप में कोई भी प्राकृतिक प्रकोप हो या, एक कबीला दूसरे कबीले पर सहसा आक्रमण कर बैठे, या कोई हिंस्र पशु समूह के बीच घुस आये तो इस तरह के खतरनाक व भयंकर क्षणों में आदिम मानव के लिए सामूहिक प्रतिक्रिया स्वाभाविक रूप से आवश्यक हो उठती है। इस प्रतिक्रिया का रूप होता है—केवल घबराहट, भय और चिन्ता। कविता के रूप में सामूहिक संवेदना का प्रदर्शन ऐसी स्थिति में तो सर्वथा व्यर्थ ही है। पर इस तरह की दुर्घटनाएँ हमेशा और हर समय नहीं होतीं। कभी-कभी होती हैं। लेकिन दुर्घटना के अभाव में भी उसकी सम्भाव्य पूर्व-कल्पना तो समूह से अगोचर नहीं रहती। उस सम्भाव्य दुर्घटना का सामना करने के लिए वे सामूहिक रूप से तैयारी करते हैं।'[1] इसके लिए सबसे उपयुक्त साधन है—कविता। केवल कविता। तो आदिम मानव के लिए कविता कोई मनोरंजन या उसकी जिंदगी से बाहर की चीज नहीं है। उसकी जीवन-मरण की आवश्यकताओं के बीच स्वयं कविता को भी अपनी जिन्दगी मिली है। इन प्राकृतिक अवसरों के अन्यथा कुछ ऐसे सामाजिक अवसर होते हैं कि जिनके लिए भी सामूहिक उद्वेग और सामूहिक तैयारी आवश्यक है। जैसे खेत जोतना, बीज बोना, फसल काटना या खेती अवेरना। ऐसे मौकों पर आदिम समाज में प्राकृतिक संवेगों को एक सामाजिक रूप देना जरूरी हो जाता है। इस सामूहिक संगठन के लिये एक मात्र साधन है—मानवीय वाणी। और जब वाणी द्वारा उच्चारित शब्दों में लय, गीत और संगीत का संस्पर्श मिल जाता है तो उनकी आकर्षण शक्ति समूह

---

१. इल्यूजन एण्ड रियलिटी—क्रिस्टॉफर कॉडवेल—२३

की आंतरिक भावनाओं को एकरूपता प्रदान कर देती है। सारे समूह की ताकत व्यक्ति में प्रवेश कर जाती है। वह संगीत सराबोर हो जाता है। प्रत्येक लय और गति पर वह ताल देकर नाचता है। गाता है। कूदता है। यही आदिम मानव की कविता है। यही उसका संगीत है। और यही उसका नृत्य है। संगीत और नृत्य दोनों मिल कर आदिम-कविता की रूप-सज्जा को निखारते हैं। खेती अवेरना या फसल काटना इत्यादि ये सामाजिक यथार्थ इस तरह के सामूहिक उत्सवों व त्यौहारों में परिकल्पना का रूप धारण कर लेते है। और समय आने पर वास्तविक क्रिया के लिए समूह को बल प्रदान करते है। प्रेरणा देते है। वह मेहनत है—जो कविता को जन्म देती है। और वह कविता है—जो अपने संस्पर्श से मेहनत को हलका करती है। उसे मीठा बनाती है। यह दुहरा चरित्र ही आदिम-कविता की सबसे बड़ी विशेषता है।

वाणी या भाषा की तरह आदिम मानव का प्रकृति के साथ वर्ताव भी आज के सभ्य मानव से सर्वथा भिन्न था। जब तक आदिम मानव के हाथ स्वतंत्र नहीं हुए थे, तब तक वह स्वय पूर्ण रूप से प्रकृति का ही एक अंश बना हुआ था। वह निरा पशु ही था। उसमें जीव था, पर आत्म-चेतना नहीं थी। मेहनत और वाणी ने उसे पशु जगत से ऊपर उठाया। वह अपनी चेतना के प्रति कुछ-कुछ सजग हुआ। इस सजग चेतना का आदिम मानव के लिए आरंभ में बस इतना ही परिणाम हुआ कि प्रकृति के अंश-रूप में वह उससे जुड़ा नहीं रहा। वह प्रकृति से भिन्न हो गया। पर उस भिन्नता की चेतना उसे नहीं थी। इसलिए आदिम शिकारी और आदिम चरवाहा प्रकृति में अपनी आकांक्षाएँ व अपनी अभिलाषाएँ खोजता फिरता है। और प्रकृति ही उसकी आदिम-आवश्यकताओं को पूरा करती है। वह फलों की तलाश में घूमता है। वह शिकार के पीछे भटकता है। आदिम शिकारी को प्रकृति की वह प्रारंभिक जुदाई अखरती है। वह प्रकृति ही में वापिस घुल-मिल जाना चाहता है। इसलिए आदिम शिकारी और आदिम चरवाहे की कविता भी इन्हीं प्राकृतिक उद्भावनाओं को व्यक्त करती है। शिकार करने की सामूहिक विधि और प्रकृति में घुलमिल जाने की सामूहिक आकांक्षा ही इन कविताओं की विषय-वस्तु हुआ करती है। और उन कविताओं का रूप भी सहज, स्वाभाविक व इन्द्रिय-बोध-गम्य होता है। ऋग्वेद की कुछ ऋचाएँ आदिम शिकारी के इस सामूहिक उद्वेग का परिचय देती हैं। उनमें जंगल की प्रशंसा है। घास, फल, फूल, और पशुओं का वर्णन है। जैसे:

इस महायन में गौ आदि पशु बड़े आनंद के साथ घास चर रहे हैं। यह जगल तो बिल्कुल घर जैसा ही है। कोई गाड़ियाँ भेज रहा है। कोई गायों को आवाज दे रहा है। कोई मुर्गी लकड़ियाँ ही काट रहा है। और कोई सध्या के बढ़ते हुए अधकार मे घबरा रहा है। यदि कोई क्रूर जन्तु न हो तो यह अरण्य किसी को नही मारता। किसी को दखल नहीं देता। बड़ा भला है—यह अरण्य। हमें स्वादिष्ठ फल खाने को देता है। कस्तूरी और फूलों की सुगन्ध देता है। बिना खेती किये भी वह अन्न से हमारी झोली भर देता है। शिकार करने योग्य कितने ही पशुओं का जन्म-स्थान है—यह अरण्य। कितना भला। कितना सुन्दर। प्रशसा के योग्य।"[1]

परम्परागत अनुभव और नित्य नई आवश्यकताओं के अनुरूप पुराने औजारों का सुधार आदिम शिकारी को स्वावलम्बी बना देता है। वह शिकारी से चरवाहा और चरवाहे से कृषक बन जाता है। एक जगह ठहर कर वह अपना पेट भरने में समर्थ हो जाता है। वह अब प्रकृति से भीख नही माँगता। पेट भरने की तलाश मे मारा-मारा नही फिरता। वह अपने हाथों खेत जोतता है। हल चलाता है। बीज बोता है। पानी सींचता है। धान पकाता है। अपने हाथों रोटी बनाता है। खुद खाता है। अपने साथियों को खिलाता है। वह प्रसन्न है। स्वावलम्बी है। अब वह प्रकृति के भरोसे नही जीता। अपनी मेहनत के बूते पर जीता है। इस बदली हुई परिस्थिति मे आदिम मानव की सामूहिक आवश्यकता बदली। सामूहिक आवश्यकता के बदल जाने पर सामूहिक भावनाएँ बदली और बदली हुई सामूहिक भावनाओं के अनुरूप कविता का रूप बदला। आदिम शिकारी स्वय प्रकृति मे घुल मिल जाना चाहता है। और आदिम किसान प्रकृति को अपनी चेतना मे समिश्रित कर लेना चाहता है। वह अब अपने में प्रकृति का अश नही खोजता, बल्कि प्रकृति मे मानवीय चेतना को अनुभव करता है। समूची प्रकृति को वह अपनी चेतना का ही अश समझता है। इसलिए आदिम किसान भी प्रकृति से भिन्न तो नहीं हो पाता परन्तु प्रकृति के साथ उसका सम्बन्ध अवश्य बदल जाता है। पहिले वह प्रकृति की ओर भागता था, अब वह प्रकृति को ही अपने में समा लेना चाहता है।

आदिम मानव का यह विश्वास है कि जब प्रकृति उसकी चेतना ही का

---

१ ऋ० १०/१४६/१–६

ग्रग है तो चेतना पर नियन्त्रण करने से प्रकृति को भी नियमित किया जा सकता है। अपनी आतरिक भावनाओं के अनुकूल वह बाह्य जगत को बदल सकता है। चेतना और वाणी आदिम मानव के लिये दो भिन्न चीजें नहीं हैं। इसलिए आदिम मानव वाणी के माध्यम से प्रकृति पर अनुशासन करने की चेष्टा करता है। और इस चेष्टा की पूर्ति होती है – कविता के सहारे। लय, गति, छद, सगीत और नृत्य द्वारा कविता मे एक रहस्यात्मक अद्भुत शक्ति उत्पन्न होती है, जो समूह के आतरिक भाव-जगत को एक सूत्र मे पिरो देती है। और उसे पूरा विश्वास हो जाता है कि प्रकृति उसकी चाहना के अनुकूल अपना कार्य निश्चित रूप से सम्पन्न करेगी। शब्दों की यह मत्र-शक्ति आदिम कविता का मूलभूत सत्य है। जादू-टोने और मत्र की आदिम-भावना ने ही कविता को जन्म दिया। आदिम मानव अपनी खुली आँखों से देखता है कि काले-काले बादल उमड कर आते हैं। बिजली चमकती है। एक गर्जन की आवाज होती है। पानी बरसता है। खेत लहलहा उठते हैं। फसल बढती है। धान पकता है। इसलिए जब भी खेत को पानी की आवश्यकता होती है, आदिम मानव समूह बना कर नाचता है, गाता है, और बादलों की कामना करता है। उसका विश्वास है कि कामना करने से जरूर बरसात होगी। वह पानी चाहता है, तो जरूर पानी बरसेगा। उसकी कामना सिद्ध होगी। विश्वास से कार्य मे उत्साह, जोश और निष्ठा उत्पन्न होती है। और सहज ही एक अनिर्वचनीय आनन्द की वस्तु बन जाती है—सहज और मधुर। यह मन्त्र-शक्ति ही आदिम मानव का विज्ञान है। यही उसका धर्म है। यही उसकी कविता है। यही उसकी कला है। और यही उसका जीवन है। शब्द और वाणी के प्रति आदिम मानव का यह मत्र-विश्वास ही आदिम-कला की दिव्य-वस्तु है।

वेदों की ऋचाओं में हमें इसी आदिम-विश्वास की पवित्र विशुद्ध और जीवन्त व्यजना मिलती है। वैदिक जीवन का जिस किसी भी बाह्य-पदार्थ से सम्बन्ध था, उसे वैदिक ऋचाओं में जीवन-आवश्यकता के अनुरूप सहज अभिव्यक्ति मिली है। कई बाह्य पदार्थों को उसने देवता के रूप मे थापित किया है। वैदिक-देव तत्कालीन जीवन की आवश्यकता-विशेष ही का प्रतीक है। उसका रूप है। रग है। आकार है। उपयोगिता है। वैदिक मानव के लिए अग्नि की बडी जबरदस्त उपयोगिता थी, इसलिए अग्नि की उसने अपनी ऋचाओं मे स्तुति की है। वदना की है। उसे एक देव माना है। 'देव' शब्द अब हमारे

लिए रूढ़ हो गया है। पर वैदिक मानव के लिए इसका मूल अर्थ था—प्रकाश। जो वस्तु आँखों से दिख जाती हो या जिसका मानवीय इंद्रियों से बोध किया जा सकता हो, उसे वैदिक-मानव ने 'देव' कह कर संबोधित किया है। अग्नि, वरुण, वायु, मारुत, इंद्र, सूर्य, उषा, सन्ध्या, सोम, पर्जन्य आदि—ये ही तो हैं वैदिक देव। हर कदम पर इनकी आवश्यकता रहती थी। और वैदिक-ऋचाओं में इसी आवश्यकता को दर्शाया गया है। जीवन-आवश्यकताओं के जीवन्त प्रतीक ही वैदिक-जीवन की देवमालाएँ हैं। आदिम समाज में इन देवमालाओं के अन्यथा धर्म नाम की कोई अलग से चीज नहीं है। लय, गति, संगीत, नृत्य और छंद—आदिम कविता के रूप को निर्धारित करते हैं और उसकी विषय-वस्तु का निर्माण इन पुराण-कथाओं द्वारा ही सम्पन्न होता है। आदिम मानव सूर्य, चंद्र, बादल, हवा, आँधी अग्नि, उषा और सन्ध्या आदि को सामूहिक रूप से अनुभव करता है। सारे समूह को इनकी आवश्यकता रहती है, इसलिए सामूहिक उद्वेग द्वारा ही आंतरिक भाव-जगत की अभिव्यक्ति मिलती है। जीवन आवश्यकता से सम्बन्धित वस्तु का आदिम कल्पना में अनुकरण किया जाता है। इसलिए आदिम कविता में अंतर्निहित कल्पना एक सामाजिक छवि-चित्र ही का अंकन है—एक सामाजिक यथार्थ का ही बिंब है। उसकी व्यंजना में सारे समूह की चेतना व्याप्त रहती है। और पौराणिक कथाओं में तत्कालीन सामाजिक सम्बन्धों की तरल-कल्पना ही को चित्रित किया गया है। देवमालाओं के अन्तर्विरोधी कथा-तत्व ही आदिम समाज की वास्तविक सच्चाई हैं। एक ही पदार्थ को आदिम मानव भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न मानसिक अवस्था के कारण भिन्न भिन्न रूपों में देखता है, और उसको उसी विभिन्नता के साथ अनुभव भी करता है। पुराण-कथाओं में आदिम मानव की इन्हीं विविध अनुभूतियों का यथार्थ चित्रण है। आज के बदले हुए यथार्थ में भले ही ये पौराणिक कथाएँ असंगत, अस्वाभाविक और कल्पना मात्र लगें पर आदिम मानव का जीवन-सत्य इन गाथाओं में अविकृत रूप से व्यंजित हुआ है, इसमें कोई संदेह नहीं। आज इन पुराण कथाओं के द्वारा आदिम मानव की अज्ञानता और वस्तु-जगत को ठीक से न जानने की उसकी अवैज्ञानिक वृत्ति का भले ही हम उपहास करें पर निसंदेह इन गाथाओं में कम से कम आदिम मानव की बेईमानी, छद्मता, और मिथ्या आडम्बर तो कहीं लक्षित नहीं होता। वह अज्ञानता ही उसकी एक मात्र सच्चाई है। क्योंकि सत्य आकाश से गिरी हुई कोई आकस्मिक

चीज नही होती। वह तो हमेशा समाज के बीच अपनी विशिष्ट परिस्थितियों मे विशिष्ट क्रम से पैदा होता है। मनुष्य और प्रकृति का व्यवस्थित और सामूहिक संघर्ष ही सत्य का सृजनहार है। वस्तु-जगत के साथ मनुष्य का जो निरन्तर संघर्ष होता रहता है उसी के बीच सत्य पनपता है। फूलता है। फलता है। सत्य यथार्थ ही का एक अंश है। और यथार्थ हमेशा बदलता रहता है। इसलिए सत्य भी हमेशा बदलता रहता है। उसका कोई चरम और अंतिम रूप नही होता। सत्य की सीमा है—स्वयं विश्व। सामयिक मर्यादा और सीमा के भीतर ही उसकी परख होनी चाहिये। आदिम मानव का सत्य आदिम वस्तु-जगत और आदिम-यथार्थ से मर्यादित है। और आज के सत्य की सीमा आज की बदली हुई वास्तविकता है। इसलिए आज के युग मे सत्य को परखने के जो मापदंड हैं उनसे आदिम यथार्थ की ठीक से नापजोख नही हो सकती।

और वस्तु जगत और यथार्थ इसलिए बदलता रहता है कि इसको बदलने के लिए मानवीय साधन बदलते रहते है। मानवीय शक्ति बदलती रहती है। प्रकृति को अपने अनुकूल बनाने के लिए मनुष्य के अस्त्र-शस्त्र बदलते रहते है। इसलिए वस्तु जगत और यथार्थ भी बदलता रहता है। मनुष्य जब समाज बनाकर रहता है तो जिंदा रहने के साधन भी उसे अपने ही हाथो जुटाने पडते है। उसे खाने को धान चाहिए। शरीर ढांपने को कपडा चाहिए। सर्दी, गर्मी, आँधी, बरसात, हिंस्र पशु, और प्रकृति के अंध प्रकोपो से बचने के लिए उसे एक सुरक्षित मकान चाहिये। इन जीवन-आवश्यकताओ को खाली दो नंगे हाथो तो पूरा किया नही जा सकता। औजारो का प्रयोग जरूरी है। निहायत जरूरी। इनके बिना तो मनुष्य कुछ भी काम नही कर सकता। प्रकृति को अपने अनुकूल बनाने के खातिर, बढती हुई आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उसे अपने ही हाथो निर्मित किये हुए औजारो का प्रयोग करना पडता है। ये औजार ही तो मनुष्य की इच्छा व आवश्यकता के अनुरूप भौतिक मूल्यो का निर्माण करते हैं। भौतिक मूल्यो को निर्मित करने वाले इन उत्पादन-साधनो का आविष्कार तो मनुष्य स्वयं ही करता हैं परन्तु आविष्कृत औजारो के अभाव मे तो वह स्वयं भी अधूरा है। औजार ही मनुष्य की वास्तविक शक्ति है। लेकिन वह शक्ति स्वयं म निष्क्रिय नही है। मनुष्य की चेतना के परे भी वह समाज मे अपना कार्य हरदम करती रहती है। मनुष्य तो अपनी बढती हुई आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए नये उत्पादन-साधनो का आविष्कार कर लेता है—आगे के

परिणामों को बिना सोचे-विचारे। पर ये उत्पादन-साधन मनुष्य के पिछले सारे सामाजिक सम्बन्धों को तोड डालते हैं और अपने हिसाब से नये सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना करते रहते है। ये उत्पादन-साधन समाज को कभी एक जगह खडा नही रहने देते, उसे विकास की ओर अग्रसर करते ही रहते हैं। तो समाज के विकास की आखिरी जिम्मेवारी भौतिक मूल्यों को निर्मित करने वाले इन उत्पादन-साधनों पर ही आकर ठहरती है। तत्कालीन समाज की उत्पादन-शक्ति, श्रम विभाजन, वर्ग-विभाजन, उत्पादन-सबंध, कला, विज्ञान, धर्म, वैविध्य, दर्शन, साहित्य, रीति-रिवाज, सोचना, विचारना आदि सब कुछ इन्ही औजारों उत्पादन-साधन] पर निर्भर करता है।

आदिम औजारो के कारण ही तत्कालीन समाज के आदिम विश्वास, आदिम कला और आदिम कविता का वह आदिम रूप है। अविकसित औजारों की वजह से आदिम जीवन मे वैविध्य असभव है। इसलिए आदिम मानव के व्यवहार उसके चितन, उसकी कला मे भी विविधता नही है। सिवाय शारीरिक भिन्नता के सबकुछ समान होता है। औजारों की भिन्नता के कारण ही समाज मे बढई, कुम्हार, लुहार, जुलाहे, हलवाई, मोची, डाक्टर, इजीनियर, ड्राईवर आदि उत्पन्न होते हैं। और काम करने के तरीके व औजार भिन्न होने के कारण ही जीवन मे विविधता प्रवेश करती है। जीवन की विविधता के अनुरूप चितन, व्यवहार, रहन सहन, कला, विज्ञान के क्षेत्र मे भी वैविध्य उत्पन्न हो जाता है। लिपिबद्ध भाषा का आविष्कार होने से पहिले साहित्य की मर्यादा केवल वाणी तक ही सीमित थी। उसका आधार सर्वथा मौखिक ही था। मनुष्य का सपूर्ण साहित्य मनुष्य की देह के भीतर ही सचित था—स्मृति मे या जिह्वा पर। वाणी द्वारा जो भी नया साहित्य मुखरित होता था उसे स्मृति के माध्यम से सुरक्षित रखना पडता था। और सचित किए हुए साहित्य को वाणी द्वारा वापिस प्रषित किया जाता था। कविता मे लय, गति, सगीत व छन्द के समिश्रण से वाणी और स्मृति के सयोग का आसानी से निबाह किया जा सकता है। इसलिए आदिम मानव की सामूहिक प्रतिभा को व्यक्त करने के लिए कविता ही पूर्ण रूप से एक उपयुक्त साधन है।

समय आगे बढता रहा। फिर भला मनुष्य कैसे पीछे रहता? परपरागत अनुभव और ज्ञान के सहारे वह समय के साथ कदम मिलाता हुआ आगे बढता रहता है, क्योंकि जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने की समग्र जिम्मे-

दारी अब स्वयं उसीके कंधो पर आ पडी है। और : इस जिम्मेदारी को निबाहने के लिए उसे अपने औजारो का ही भरोसा है। इसलिए उत्पादन के साधनो मे बढती हुई आवश्यकताओ के अनुरूप सुधार होता रहता है। विकसित औजारो की मदद से जीवन-आवश्यकताओं को पूरा करना धीरे-धीरे आदिम मानव के लिए सुगम एव सरल काम रह जाता है। वह पहिले की अपेक्षा काफी कम समय में अपनी जरूरतो को पूरा कर लेता है। अब उसे अन्य जीवन-समस्याओ को सोचने-विचारने के लिए भी काफी समय मिलने लगा है। उपनिषदकालीन समाज और वैदिक समाज की चिंता-धारा मे यही अन्तर विशेष तौर पर लक्षित होता है। उपनिषदकालीन समाज को सस्कृति व परंपरागत ज्ञान के रूप में वैदिक साहित्य मिला था। उत्पादन के साधनो को आविष्कृत करने के लिए उसे नये सिरे से सघर्ष नही करना पडा था। वैदिक साहित्य और उसमें वर्णित देवमालाओ का दार्शनीकरण किया गया। आत्मा, ब्रह्म और जगत के तत्व-स्वरूप की व्याख्या की गई। वेदकालीन आर्यों का ब्रह्मन् उपनिषदकालीन दार्शनिको से भिन्न था। वैदिक ब्रह्मन् सगुण था। और उपनिषदो का ब्रह्मन् निर्गुण। 'वैदिक ब्रह्मन् बाह्य सत्ता का ही एक यथार्थ था, जिसके आनन्द की प्राप्ति भौतिक परिश्रम के द्वारा ही सभव हो सकती थी। वैदिक ब्रह्मन् जीवन का आनन्द लेता था। खाता था। पीता था। नाचता था। आनन्दित होता था। समुन्नत होता था। उपनिषदो का ब्रह्मन् इन्द्रियो के परे और ज्ञान के भी परे था। उसमे कोई भावना या अनुभूति नही थी। उसके लिए खाना, पीना, आनन्द मनाना निषिद्ध था।[1] पौराणिक आदिम कथाओ के साथ भी उपनिषदकालीन दार्शनिको का वह पूर्ववत् आदिम बर्ताव नही रहा। उन्हे भी एक धार्मिक बाना पहना दिया गया। वे सर्वथा जड और निष्क्रिय हो गई। जीवन मे उनकी कोई जीवन-आवश्यकता नही रही। इन पुराण-कथाओ का अत आदिम वर्गहीन समाज के अन्त का सूचक है।

तो आदिम समाज की वह सामूहिक एकरूपता हमेशा के लिए अक्षुण्ण बनी नही रही। प्रकृति ने समाज के भीतर प्रवेश किया तो मनुष्य और मनुष्य के बीच झगडा पैदा हो गया। झगडा भी इस तरह का जो पहिले कभी नहीं था। इसके पहिले भी कबीले आपस मे लडते थे। हमला करते थे। मरते थे। मारते

---

१ भारत—श्रीपाद अमृत डागे, पृष्ठ ५८।

थे। पर मानव समाज के बीच यह आपसी वर्ग-संघर्ष अपनी तरह का एक सर्वथा नया ही संघर्ष है। प्रकृति के इस घनिष्ठ सम्बन्ध ने असद मानवता के बीच फूट पैदा करदी। प्रकृति के साथ मनुष्य की लड़ाई तो हो गई गौण, और प्रधान बात हो गई मनुष्य और मनुष्य का आपसी वैर। परपरागत अनुभव, ज्ञान और औजारों के सुधरे रूप की ताकत के सहारे मनुष्य प्रकृति से जबर-दस्ती वसूल करना सीख गया है। प्रकृति को ज्यो-ज्यो मनुष्य ने गहराई के साथ बेधना आरम्भ किया, हल की नोंक से ज्यो-ज्यो उसकी छाती को गहरे घावो से रोंधना शुरू किया, त्यो-त्यों वह मनुष्य की झोली मे अधिक से अधिक धान भरने लगी। मनुष्य ने हाथ मे हल क्या थामा, मानो प्रकृति की कलाई को ही उसने अपनी मुट्ठी मे कस कर पकड़ लिया। बैलो की पुरणियों मे नाथ क्या डाली, मानो प्रकृति को ही लगाम देकर उसने अपने वश मे कर लिया।

पर प्रकृति की यह विजय मनुष्य की अपनी करारी हार बन कर रह गई। मनुष्य, मनुष्य का स्वामी हो गया। मनुष्य, मनुष्य का गुलाम हो गया। पीढियों के अनुभव से आदिम मानव की समझ-बूझ विकसित होती रही। पहिले वह पशुओं को मार कर अपनी उदर-पूर्ति करता था। अब वह उन्हे पाल कर, उन्हे जिन्दा रख कर अपनी आवश्यकताओं को पूरा करना चाहता है क्योकि उन्हें मार कर खाने से घास चरा कर उन्हे जिन्दा रखने से उसका फायदा ज्यादा है। पहिले आदिम मानव लड़ाई मे जीते हुए दास को जान से मार डालता था। क्योकि जिन्दा रख कर उसके द्वारा कामकाज कराने से कोई लाभ ही न था। प्रकृति की बढती वसूली ने दासो की जान बचाली। गुलाम मालिक के घर से जितना खाता है, या या कहे कि उसे जिन्दा रखने के लिए मालिक को जितना खर्च करना पडता है, वह उसस दिन भर मेहनत करवा कर ज्यादा वसूल कर सकता है। फिर उसे मारने से फायदा ? गुलामो को कब्जे मे रख कर मालिक उनकी मेहनत के बूते पर जी सकता है। आराम की जिंदगी बसर कर सकता है। पर आराम की उस जिन्दगी को बसर करने के लिए परस्पर बडे युद्ध करने पडते है। इसलिए शारीरिक ताकत, वीरता, बाहु-बल, शौर्य, निडरता, युद्ध-कला, रण चातुर्य, अस्त्र शस्त्रो की सचालन विद्या, उस समय जिन्दा रहने के लिए प्रमुख शक्ति थी। जो वीर पराक्रमी है, वही धरती भोग सकता है। निर्बल और कायर गुलाम बना लिए जाते है। औजार स्वय तो कुछ उत्पन्न करने से रहे। उनको प्रयोग मे लाने के लिए, धान पैदा करने के लिए आदमी

चाहिए। ऐसे आदमी—जो ठीक औजार ही की तरह मालिक की व्यक्तिगत सपत्ति हो। जो सबल, वीर, साहसी होता है, वह निर्बल को गुलाम बना कर रख सकता है। व्यक्तिगत वीरता बर्बर युग की विशेष मान्यता समझी जाती है। और तत्कालीन समय की कविता भी अपने समय की उस मान्यता को स्वीकार करती है। जब स्वय मनुष्य वीर पूजा करने लगा है तो कविता भी वीर भावना को व्यजित करने लगी। दास-युग की कविता वीर नायकों का जी भर कर बखान करती है। वीरता, शौर्य, पराक्रम का गुण-गान करना उसका सामयिक उत्तरदायित्व हो जाता है। महाकाव्यो की रचना कविता की इसी सामयिक जिम्मेवारी हो का परिणाम है। आदिम वर्गहीन समाज और दास-युग के सधिस्थल के बीच ही महाकाव्यो की सृष्टि होती है। जिनके चरित्रनायक अवतार या महापुरुष हुआ करते हैं। आदिम सामूहिक गान, महाकाव्य के माध्यम से अभिव्यक्ति पाते है। महाकाव्यो मे वर्णित कथा का स्वरूप तो सामूहिक ही होता है। लेकिन एक व्यक्ति के माध्यम से सामूहिक उद्वेग की व्यजना मिलती है। महाकाव्यो का लोकनायक अपनी वैर्य व वीरता व साहस का प्रदर्शन करते हुए भी सामूहिक प्रतिनिधित्व की जिम्मेवारी से प्रतिक्षण मर्यादित रहता है। वीर युग के आख्यान-चक्र महाकाव्यो का विशाल आकार ग्रहण कर रहते हैं। कविता में एक सामूहिक कथा ने प्रवेश किया तो वह महाकाव्य मे परिणित हो गई। नृत्य मे कथा ने प्रवेश किया तो उसने नाटक का रूप धारण कर लिया। पर लोक-कविता मे तो नृत्य, सगीत इन तीनों की अभिन्नता आज दिन भी कायम है। किन्तु महाकाव्यो के सामूहिक गान से नृत्य और सगीत थोडा थोडा किनारा करते रहते हैं। महाकाव्य का विषय सामूहिक कथा ही रहती है और काव्य उसका रूप। और इसी तरह प्रारम्भिक नाटको मे भी विषय वस्तु का निर्माण सामूहिक कथा के द्वारा ही होता है। पर उसके रूप-तत्व की पूर्णता कविता, नृत्य और सगीत के समिश्रण से ही प्राप्त होती है।

जब दास-समाज मे एक ऐसी वर्ग व्यवस्था कायम हो गई कि अधिकृत गुलामो की मेहनत के बल पर प्रभु वर्ग बिना मेहनत किये हुए भी आराम से जिन्दा रह सकता है तो इस आराम की जिन्दगी को बसर करने के लिए एक कला-विशेष मे पूर्णतया दक्ष होना पडता है। वह कला है—गुलामो को अधिकार मे रखने की शक्ति। इस कला विशेष को साधने से तत्कालीन जीवन की सामयिक

आवश्यकताओं को पूरा किया जा सकता है। गुलाम की भौतिक देह के अलावा उसके धर्म और उसकी कला को भी मालिक अपने अधिकार में ले लेता है। तब धर्म और कला का कर्तव्य बच रहता है—ठीक गुलाम ही की तरह अपने स्वामी के आदेश का पालन करना। मालिक मेहनत से दूर रहता है। अधिकृत कविता और धर्म भी मेहनत और मेहनत करने वालों से दूर रहते हैं। केवल आराम और विनोद की सामग्री ही मे निःशेष हो जाते हैं। जब आदिम समाज की सामूहिक एकरूपता नष्ट हो जाती है तो कविता भी दो हिस्सों मे बिखर जाती है। तब लोक-काव्य और कविता को अलग से सम्बोधित करना आवश्यक हो जाता है।

आदिम वर्गहीन समाज मे कविता, धर्म, देवमालाएँ, मंत्र, जादू-टोना, संगीत, नृत्य इत्यादि सब एक ही में सन्निहित थे। वर्ग-विभाजित समाज मे धर्म कविता से जुदा हो जाता है। वह एक निश्चित 'मत' या जड-रूप धारण कर लेता है। वर्ग-समाज में समूह की चेतना उसकी अपनी चेतना नहीं होती। वह प्रभु-वर्ग द्वारा ऊपर से थापी हुई एक बाहर की चीज होती है। शासित-वर्ग की चेतना को अपने हिसाब मे ढालने के निमित्त प्रभु वर्ग, धर्म और साहित्य से पूरी-पूरी मदद लेता है। आरम्भ मे इसका रूप उतना स्पष्ट नहीं होता। धीरे-धीरे वर्ग-संघर्ष के स्पष्ट होने पर वह स्पष्टतर होने लगता है। 'दास-युग' की सामयिक परिस्थितियो मे सरदार, पंडे, पुरोहित, गुलाम, दास, स्वामी इत्यादि के रूप मे समाज के भीतर वैविध्य उत्पन्न होने से उसके साहित्य मे भी विविधता पैदा हो जाती है। लिपिबद्ध भाषा के अभाव में सहज व स्मृति-सुलभ होने के कारण अभिव्यंजना का माध्यम तो कविता ही रहती है, किन्तु सामूहिक संवेदना का क्षेत्र थोडा बहुत सीमित हो जाता है। पंडे, पुरोहित, सरदार, दास, और दास-स्वामियों की परिवर्तित स्वार्थ-भावना के मुताबिक उसके आदिम-चरित्र का वह व्यापक सामूहिक रूप अवश्य कुछ सिमट जाता है। उस सिमटे हुए रूप का बृहत् आकार है—महाकाव्य।

काल देवता की गति क्षण भर के लिए भी अवरुद्ध नहीं होती। वह अविराम गति से आगे बढ़ता ही रहता है। समय बदला। परिस्थितियाँ बदली। बदली हुई परिस्थितियो मे दास-युग का वह वीर, पराक्रमी सरदार राज्य पद पर आसीन हो जाता है। आत्म-रक्षा के लिए तब युद्ध जरूरी था। राजा भी जरूरी था। जिस युद्ध-निरत कबीले के पास राजा नहीं होता था, उसकी अक्सर हार हुआ करती

थी। इसलिए एक व्यक्ति को सामूहिक रक्षा और सैन्य-सचालन का भार सौंपना अनिवार्य हो गया। सामूहिक सत्ता, सामूहिक सामर्थ्य, सामूहिक शक्ति और सामूहिक सपत्ति को 'व्यक्ति' के हवाले करना पडा। सैन्य-सचालन और सामूहिक रक्षा के खातिर राजा को प्रजा द्वारा कर देना पडता था। जमीन की उपज का एक नियमित हिस्सा उसके सुपुर्द करना एक सामूहिक कर्त्तव्य था। पर राज्य-पद पर आसीन होने के पश्चात् व्यक्ति फिर व्यक्ति ही नही रहा। वह समूह से भी अधिक ताकतवर हो गया। आरम्भ मे जब 'व्यक्ति' सामूहिक सत्ता पर आरूढ हुआ तो थोडे-बहुत समय तक वह समूह की मान्यताओ से मर्यादित रहा, परन्तु जब राज-सत्ता व्यक्ति पर सवार हो गई तो फिर उसके 'मद' की भी कोई सीमा नही रही। वह अपनी मनमानी करने लगा। स्वय को ईश्वर का ही प्रतिरूप घोषित करने लगा। साहित्य, कला और धर्म के माध्यम से उक्त घोषणा को प्रचारित किया गया। समय के दौरान मे धीरे-धीरे यह घोषणा लोक-जीवन के सस्कारो मे घुल-मिल कर उसकी चेतना ही का एक अश बन जाती है। जनता राजा को ईश्वर के रूप मे स्वीकार कर लेती है। उसका गुणगान करती है। वदना करती है। राजा के दर्शन को अपना सौभाग्य समझती है। जन चेतना के साथ-साथ कविता ने भी अपना स्वर बदला। अपना वेश बदला। अपनी दृष्टि बदली। जनता के स्वर मे वह भी अपना स्वर मिला कर राजा का गुणगान करती है। राजा की वदना करती है। शक्ति, सपत्ति और सत्ता के पाँवो मे लोटने का उसने अपना स्वभाव बना लिया। मेहनत के पसीने से उसे बू आने लगी। रेत, काँटे, पानी और धूप से वह अपना दामन बचाने लगी। आराम, सुगन्ध और ऐश्वर्य की तलाश के खातिर वह राज-प्रासादो मे जम कर रहने लगी। राज्याश्रित कवि बिहारी ने तो बार-बार अपनी कविता में लोक-रुचि की भर्त्सना की है। उसका मजाक उडाया है—कि पसीने और रेत की बदबू मे जीवन भर पले हुए गाँव के जाहिल इत्र की सुगन्ध को क्या खाक पहिचानेगे ? ये इत्र को हथेली मे भर कर चाटते हैं। मीठा-मीठा कह कर उसकी सराहना करते हैं। अजीब इनकी समझ है। अजीब इनकी रुचि है। जैसे गँवार ये, गाधी भी इन जैसा ही गँवार ! न जाने किस आशा से यह मूर्ख इत्र को गाँव मे बेचने निकला है।[1] राजा के 'पन्वालो'

---

१ कर फुलेल को आचमन, मीठो कहत सराहि।
गधी गन्ध गुलाब को, अतर दिखावत काहि ?
कर लै सूघि सराहि कै, सबै रहे गहि मौन।
गधी गध गुलाब को, गवई गाहक कौन ?

पर पलने वाले दरबारी, हवा में सांस लेकर जीने वाले 'महाकवि' बिहारी को क्या मालूम कि गांवों की जनता टहनी पर लगे हुए फूलों के वन में रहती है। वह तो केवल फूलों की सुगन्ध ही को समझती है। वह स्वयं अपनी मेहनत से, अपने हाथों से फूलों को जीवन देती है। बेचने के लिए नहीं। जिसे फूलों की सुगन्ध चाहिये, वह वहां चला आये। फूल अपनी जगह नहीं छोड़ता। यदि छोड़ भी दे तो फिर उसमें वह ताजगी नहीं रहती। इस [कला] को बेच कर उसे रोजी कमाना नहीं आता। इस की खरीद-बिक्री तो राज-दरबारों में होती है। गांवों में नहीं। पर राज-कवि खोया सा गया। इस [राज्याश्रित कला] का बाजार बढ़ाने के लिए वह गांव में भी भटका। जहां घर-घर में गुलाब व चमेली [लोक गीत] के फूल महक रहे हैं।

सामंती युग में जब सत्ता, सम्पत्ति और शक्ति को व्यक्ति की सीमा में केन्द्रित कर दिया गया तो बदले हुए वातावरण के अनुकूल कविता अपना चरित्र और अपनी प्रकृति बदलती रही। जन-समूह से वह काफी तेजी के साथ किनारा करने लगी। श्रम निरत जन-जीवन से जी चुरा कर वह राज महलों में आराम की सांस लेती है। राजाओं की आश्रिता बन कर वह मौज करती है। उसके अखंड राज्य की सीमा घटते-घटते सामंती परकोटे तक ही सीमित रह जाती है।

राज्य को कायम रखने के लिए, या उसका विस्तार करने के लिए सेना, मन्त्री, राज्य कर्मचारी, पुरोहित इत्यादि रूपों में समाज के भीतर वैविध्य बढ़ता रहता है। जीवनयापन के कई नये-नये तरीकों का अस्तित्व सम्भव होता रहता है। जन-चेतना कई भागों में विभाजित हो जाती है। वैयक्तिक भावना पोषित होने लगती है। वैयक्तिक-आवश्यकता को उद्भासित करने के लिए भाषा का लिपिबद्ध रूप आवश्यक हो जाता है। लिपि का प्रचलन वैयक्तिक भावना को फिर उकसाता है। दोनों ही एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। समूह और कंठ का आपस में संबंध है। इसी प्रकार व्यक्ति और लिपि भी एक-दूसरे के पूरक हैं।

सामंत युग में कविता समूचे समाज की जीवन-आवश्यकता न रह कर केवल कुछ व्यक्तियों के जीवनयापन का साधन रह जाती है। राज्याश्रित कवियों की आर्थिक-निर्भरता कवियों की स्वतन्त्रता का अपहरण कर लेती है। वे अपनी इच्छा और अपनी प्रेरणा से काव्य की रचना नहीं करते। बल्कि दरबारी मान्यताएँ ही कवि की प्रेरणा शक्ति को नियंत्रित किया करती है।

कविता सामूहिक उद्भावना के स्थान पर व्यक्ति के कौशल एवं वाक्-चातुर्य पर ही पूर्णतया निर्भर हो रहती है। सामूहिक सपत्ति का अधिष्ठाता होने के कारण राजा के लिए अर्थ व धन की तो बेहद प्रचुरता रहती है। भूख, प्यास, नींद, वेष, भवन और अर्थ-सचय की भावना के श्रेष्ठतम सावन उसे उपलब्ध रहते हैं। भौतिक आवश्यकताओं के लिए उसे रचमात्र भी चिंतित होने की आवश्यकता नही रहती। काम-भावना की तुष्टि के लिए विलास और नित्य-नवीन क्रीडाओं की विविधता ही उसके चिंतन की प्रमुख समस्या बच रहती है। और राजा या सामत की सौंदर्य लालसा के रजन की जिम्मेवारी दरबारी कलाकारो पर आकर ठहरती है। राजा की समस्या कवि की अपनी समस्या बन जाती है। वह अपनी कविताओ मे तरह-तरह से नारी के नख-शिख का वर्णन करता है। नायिका के चरित्र-भेदो का रहस्यमय उद्घाटन करता है। निम्न से निम्न कोटि का शृगारिक वर्णन करता है। नारी के सौन्दर्य, उसके यौवन, उसके आकर्षण, उसकी चतुराई को दर्शाता है। उसकी व्याख्या करता है। कभी प्रशसा करता है तो कभी भर्त्सना करता है। सयोग और वियोग के दायरे से बाहर भी समाज का अस्तित्व है, उसके कार्यकलाप हैं, अनेको सत्य हैं—इसकी वह कल्पना ही नही कर सकता। दरबारी कविता की विषय-वस्तु अधिकाशतया नारी की देह पर ही मँडराती रहती है। कभी परे भी हटती है तो सामन्तो के रौब-दाब, उनकी 'विलासिता, ऐश्वर्य और उनके कार्य-व्यापारो के घेरे मे चक्कर काटती रहती है।

आपसी लडाई का खतरा सामन्ती-युग मे हमेशा बना रहता है। इसलिए वैयक्तिक वीरता, साहस, निडरता ही सर्वोपरि नैतिक मान्यता समझी जाती है। लडाई मे जो योद्धा जितने अधिक मनुष्य मार सकता है, वह उतना ही वीर है। श्रेष्ठ मनुष्य है। प्रशसा के योग्य है। सामन्ती कविता भी अपने समय की मान्यताओ को अपनाती है। उनका प्रचार करती है। समर्थन करती है। इसलिए शृगार और वीर रस की अतिशयोक्तिपूर्ण निराली सूझबूझ सामती-कविता का प्रमुख चरित्र है। आभूषणो व अन्य शृगारिक उपादानो से नारी के सौन्दर्य मे वृद्धि होती है तो कोई कारण नही कि कविता भी अलकारो से सुन्दर दिखलाई न दे। कवि की यह अचेतन समझ, कविता को अलकारो से लाद देती है। कविता जब सामूहिक जीवन व मेहनत से दूर हट जाती है तो वह छद, नियम, विधान, रीति-नीति और परम्परा आदि की गणित से अनु

शामिल होने लगती है। जो कला जीवन की आवश्यकताओं से उत्प्रेरित नहीं होती, उसमें विषयगत वैविध्य का अभाव रहता है और उसमें रूप-तत्व का कौशल ही अधिक बढ़ जाता है। विषय और रूप का तादात्म्य नहीं रहता। कला केवल कौशल, कारीगरी, चातुर्य के दाँव-पेंचों में ही निःशेष हो जाती है। थोथे पांडित्य और अहेतुक चिंतन में कविता का रूप तो तरह-तरह की शैलियों में प्रदर्शित होता रहता है, पर विषय जड़, स्थिर, और निष्क्रिय हो जाता है। विषय की सक्रिय सार्थकता के माध्यम से जब तक रूप स्वयं निर्मित नहीं होता, तब तक शैलीगत विविधता निष्प्राण ही रहती है।

कविता और प्रकृति का संबंध भी सामंती युग में पहिले जैसा नहीं रहता। प्रकृति का चित्रण कृत्रिम और विकृत हो जाता है। सामंती संस्कारों द्वारा पोषित कवि की चेतना-दृष्टि प्रकृति में भी नारी की खोज करती है। प्रकृति के साथ रहे बिना, उसे अपने ही जीवन का अंश माने बिना, उसे सच्चे माने में चित्रित नहीं किया जा सकता। इसलिए सामंतकालीन कविता में प्रकृति की अपेक्षा दरबारी वैभव ठाठ-बाट, आडंबर, राज प्रासादों के ऐश्वर्य व दरबारी गोंव-दाँव का वर्णन अधिक मिलता है। कवि का जहाँ और जिससे भी प्रत्यक्ष संपर्क होता है, वह उसकी कविता में स्वयमेव प्रकट हो जाता है।

आराम की तलाश में अकेली कविता ही राजा की शरण में नहीं आई थी। नृत्य और संगीत भी उसके साथ थे। लेकिन दरबारी ईर्ष्या, प्रतिस्पर्धा, द्वेष के उस सर्वव्यापी वातावरण में उनकी एकता कायम नहीं रह सकी। अपने अलग-अलग करतब दिखा कर वे राजा को रिझाने का प्रयत्न करते हैं। कला का उद्गमस्थान राजा की रीझ खीझ तक ही सीमित रहता है। सामूहिक आवश्यकता के कारण ही नृत्य संगीत और कविता की पारस्परिक अभिन्नता है। कारण के दूर होने पर उसका प्रभाव भी दूर हो जाता है। फिर भला उनकी एकरूपता कैसे कायम रहती? संगीत कविता से बिछुड़ कर केवल वाद्यों में अपने को समेट लेता है। और कविता, संगीत तथा सामूहिक उद्भावना के अभाव को कृत्रिम तरीकों से पूरा करती है। अपने रूप को खूब सजाती-सँवारती है। नृत्य भी कविता से जुदा होकर चुप्पी साध लेता है। गूँगा हो जाता है। पर संगीत का संग छोड़ने से तो वह एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। पंगु हो जाता है। संगीत अपने बूते पर अकेला जिंदा रह सकता है, पर नृत्य बिना संगीत के पाँवों पर खड़ा नहीं हो सकता। ताल का सहारा

आवश्यक है। वाद्य-संगीत—कविता के अभाव की पराकाष्ठा है तो आधुनिक गद्य-गीत संगीत के अभाव का परला किनारा है। ये तीनों कलाएँ दरबारी वातावरण का अनुकूल सहयोग पाकर अपनी रूपगत शैली में खूब तरक्की करती हैं। किन्तु लोकजीवन में कविता आज भी संगीत है, नृत्य है, एक धार्मिक कृत्य है, प्रार्थना है, आनन्द है, उल्लास है, और एक आवश्यकता है। सामंतकालीन जीवन में विविधता इस रूप में प्रकट नहीं होती कि जिससे कहानी और कविता के बीच विरोध पैदा हो जाय। कविता और कहानी का आपस में मेल बना रहता है। तत्कालीन कविताओं में अक्सर एक कथा विद्यमान रहती है। कहानी, विषयवस्तु को निर्मित करती है और कविता उसके रूप-तत्त्व को।

तुलसी, चण्डीदास, मीरा, कबीर और सूर ये स्वतंत्र कवि थे। किसी राजा के आश्रित नहीं थे। मन में जो भावना उठती थी केवल उसी का पालन करते थे। सत्ता का भय उन्हें नहीं था। राजा की रीझ-खीझ से उन्हें कोई वास्ता न था। सत्य से डरते थे। सच्ची बात कहना जानते थे। सामूहिक आवश्यकता को उन्होंने अपने भीतर अनुभव किया। सामूहिक उद्वेग को अपने कंठ से मुखरित किया, तभी तो हर गले में वह सहजता के साथ उतरता चला गया। चण्डीदास, मीरा, कबीर और सूर जनता के अपने कवि थे। इसलिए जनता ने उनकी वाणी को अपनी वाणी में भर लिया। वे मुक्त थे। उनकी चेतना मुक्त थी। उनकी कविता मुक्त थी।

दास-युग के अंतर्विरोधों ने राजा को ताज पहिना कर सम्मानित किया था। उसे सोने के सिंहासन पर बिठाया था। उसकी पूजा की थी। और सामंत युग के अंतर्विरोधों ने उसके सिर से वापस ताज उतार लिया। उसके हाथ से सामूहिक सत्ता छीन ली। समय-देवता की चाल के ऐसे ही कदम उठा करते हैं। उनका ऐसा ही परिणाम हुआ करता है। राजमहलों के गुम्बदों से पार होता हुआ उसका अगला कदम आगे बढ़ा नहीं कि लंबी-लंबी चिमनियाँ उठ आईं। धान पैदा करने वाली जमीन धुआँ उगलने लगी। भाप का अंजन चलने लगा। धड़ाधड़ कारखाने खुल आये। सीटियाँ बजने लगीं। मजदूरों का जत्था काम करने के लिए दौड़ पड़ा। प्रकृति से वसूल करने की ताक़त मनुष्य ने लाखों गुना बढ़ा ली है। हर वसूली के बाद उसकी माँग बढ़ रही है। हर बढ़ी हुई माँग को प्रकृति पूरा कर रही है। मनुष्य के आगे उसका कोई जोर ही नहीं

चलता। प्रकृति की जमीन से उसकी आवश्यकताओं का क्षेत्र कहीं अधिक बड़ा है। और वह तो निरन्तर फैलता ही रहता है। जमीन अपनी माप में बंधी है। मनुष्य के जीने के लिए अब जमीन ही काफी नहीं है। नई आवश्यकताओं की जिम्मेवारी नये यन्त्रों पर आधारित है। भौतिक मूल्यों को निर्मित करने वाले उत्पादन-साधन सभ्यता के इस युग में बेहद बढ़े। मनुष्य की उत्पादन-शक्ति भी बेहद बढ़ी। सभ्यता के इस प्रारम्भिक काल में ही मनुष्य ने अपनी मेहनत से इतना पैदा कर लिया कि अतीत की समूची पैदावार का नापजोख भी उसके बराबर नहीं हो सकता।

किन्तु मनुष्य की इस असीम उत्पादन-शक्ति के बावजूद भी उसके साथ एक ऐसी विडम्बना लगी रही कि जिसका सम्पूर्ण समाधान अब तक नहीं हो पाया। ज्यों-ज्यों वह अपने विकसित औजारों के द्वारा अधिक से अधिक पैदा करने लगा त्यों-त्यों वह अपनी पैदावार से वंचित होता गया। बाजार में बेशुमार कपड़ा भरता गया और आदमी नंगा होता गया। मंडी में लाखों मन धान इकट्ठा होता गया, सड़ता गया और आदमी दाने-दाने को मोहताज होता गया। बीमारियों से न मरने देने के लिए हजारों की तादाद में नई-नई दवाइयाँ आविष्कृत हो रही हैं और आदमी बिना इलाज के मर रहा है। क्योंकि बाजार की खूबसूरत दुकानों में दवाई बीमार को नहीं मिलती। पैसे वाले को मिलती है। हजारों नये-नये काम बढ़े। करोड़ों की तादाद में आदमी काम पर लगे और अगणित आदमी बेकाम होते गये। जीने के लिए काम चाहते हैं और उन्हें काम नहीं मिलता। ज्यों-ज्यों मनुष्य प्रकृति पर विजय करता गया त्यों-त्यों मनुष्य, मनुष्य का गुलाम बनता गया। गुलामी का रूप अवश्य बदलता रहा पर गुलामी का नाश कभी नहीं हुआ। दास स्वामी के बाद राजा और राजा के बाद कारखाने के मालिक के मातहत मनुष्य अपनी गुलामी करता रहा और कर रहा है। पिछले युग में जो महाजन स्वयं राजा द्वारा शोषित था वह अब राजा को हटा शोषक बन गया है। उत्पादन साधनों के इस मूल विधान को लेकर आधुनिक सभ्यता ने वे काम किये हैं जिनके लिए प्राचीन समाज बिलकुल अयोग्य था। लेकिन उन कामों को सभ्यता ने मनुष्य की सबसे गंदी वासनाओं और इच्छाओं को उकसा कर पूरा कराया है। उसकी अन्य शक्तियों का नाश करके उसने वासनाओं और इच्छाओं को बढ़ावा दिया। जिस दिन सभ्यता का जन्म हुआ, उस दिन से लगा कर आज तक नग्न लोभ उस सभ्यता की आत्मा

बन कर उसे चलाता रहा है। धन और धन ! फिर उससे भी अधिक और धन !! ऐसा धन जिस पर पूरे समाज का अधिकार नहीं बल्कि किसी हीन व्यक्ति की सेवा मे लगना जिसका लक्ष्य हो। इस लक्ष्य को पूरा करने मे यदि विज्ञान की नित्य नई उन्नति और नये-नये कलामय युग उसकी गोद मे गिरते गये तो केवल इसीलिए कि कला और विज्ञान की सहायता के बिना धन के गुणों का उपयोग ही नही किया जा सकता।'[1] आर्थिक विषमता और आपसी भेदभाव का अन्तर जितना इस आधुनिक युग मे प्रकट हुआ, उतना भयकर रूप उसका पहिले कभी नही रहा। एक आदमी के पास तो धन इतनी प्रचुर मात्रा मे है कि जिसे खर्च करना तक मुश्किल है। और एक आदमी ऐसा है जो दिन-रात मेहनत करने पर भी बडी मुश्किल से दो रोटी का जुगाड कर पाता है। धन के पीछे आदमी, आदमी को पहिचानना भूल गया। मनुष्य के सारे गुण, उसकी सारी मान्यताएँ धन की ताकडी पर तुली जाने लगी। पैसा नहीं तो आदमी ही नही। फिर गुण और नैतिक मान्यताओं की बारी तो आदमी के पीछे आती है।

कारखानो की प्रचड यान्त्रिक शक्ति के आगे राजा की तोपों का वश नहीं चला। उसके सिर से ताज छीन लिया गया। उसके हाथों से सत्ता बदल दी गई। राज-महलो से राज्याश्रित कला और कविता को भी बाजार मे लाकर खडा कर दिया गया। जिसके पास पैसा हो वह इन्हे खरीद ले। और जिसे पैसा चाहिये, वह इनकी रचना करे। जब स्वय मनुष्य बाजार मे बिकने को खडा हो गया तो बिचारी कला की क्या बिसात ? बिचारे विज्ञान का क्या जोर ? आज की इस पूँजीवादी व्यवस्था मे पहली बार कविता को परखने के लिए एक ऐसे मान-दड की स्थापना हुई जो काव्य क्षेत्र के बाहर की वस्तु है। वह है—पैसा। सामतकालीन कविता की सारी मान्यताएँ कविता के भीतर ही निहित थी। अलकार है तो वह भी कविता के शब्दो मे ही। रस, ध्वनि, उपमा, वक्रोक्ति, छद, आदि सभी कविता से अभिन्न नहीं हैं। काव्य के ये मान-दड कविता के रूप-तत्त्व का पोषण करते है। कविता से जुदा होकर अलकार और उपमा का कोई अस्तित्व ही शेष नही रहता। किन्तु पैसे की, कविता के बावजूद भी अपनी स्वतत्र सत्ता है। वह कविता से सर्वथा एक भिन्न पदार्थ है, जिससे आधुनिक कविता की परख होती है। जो कविता पैसा कमाये, वह अच्छी कविता है। जितना ज्यादा पैसा कमाये उतनी ही ज्यादा अच्छी कविता

१ परिवार, सपत्ति और राज-सत्ता की उत्पत्ति—ऐंगेल्स—१५१-५२

है। और : जिस कला या कविता में अर्थ-प्राप्ति न हो, वह रद्दी कला है, रद्दी कविता है।

और यह व्यवस्था कुछ इसी तरह की है कि कविता से पैसा कमाने के लिए कवि होना जरूरी नहीं। बिना कविता किये, उसे बिना समझे भी उससे पैसा कमाया जा सकता है। आधुनिक दवाइयों का विक्रेता, केवल दवाइयों के नाम जानता है और उनसे पैसा कमाता है। धान-मंडी में बनिया सभी तरह के धान बेचता है, किन्तु धान पैदा करने वाला कोई दूसरा ही है। उसे यह तक मालूम नहीं कि धान कैसे पैदा किया जाता है? इसी प्रकार आधुनिक प्रकाशक स्वयं कविता किये बिना भी, उसे तिल भर समझे बिना भी, कविता को बेच कर, उसका व्यवसाय कर सकता है। वह कलाकार नहीं है। लेकिन कला को बेचना वह खूब जानता है। शेक्सपियर को बिना पढ़े भी वह जिंदगी-भर शेक्सपियर को बेचने का काम कर सकता है। वह अंग्रेजी नहीं जानता और अंग्रेजी का व्यापार करता है। गुड़, शक्कर व चमड़े की दलाली न की—कला, विज्ञान और साहित्य की ही हाट सजाली। पैसा कमाना है, चाहे जैसे भी कमाया जाय। आधुनिक बाजार स्वयं प्रकृति का रूप धारण कर लेता है। उसे अपने हिसाब से वश में रखना असंभव है।

प्रकाशक कवि से माल खरीदता है और ग्राहक को बेचता है। उसे न कवि से कोई वास्ता है और न ग्राहक से कोई सरोकार। केवल पैसे के माध्यम से वह उन्हें पहिचानता है। वह एक स्वतंत्र व्यवसायी है। वह न तो अपने शौक के लिए कविता, कला या साहित्य का सौदा करता है, और न समाज के भले की खातिर कला या साहित्य को बेचता है। उसे तो केवल अपने जमा-खर्च का ही ध्यान रहता है। वह बाजार से अनुशासित है। ज्यादा तादाद में किताबें प्रकाशित होती हैं तो वह उसका श्रेय नहीं, उसका स्वार्थ है। किताबों का खूब सज धज के प्रकाशन होता है तो उसके लिए भी वह प्रशंसा का पात्र नहीं। तरह-तरह के विषय प्रकाश में आते हैं तो इसके लिए भी वह धन्यवाद का पात्र नहीं। क्योंकि इन सबको निर्मित करने के लिए बाजार की प्रकृति का ही मुख्य हाथ रहता है। सर्दियों के दिनों में कपड़े का व्यवसायी बढ़िया-बढ़िया ऊनी कपड़े के डिजाइन मँगवा कर रखता है तो वह इसलिए नहीं कि लोगों को सर्दी से बचा कर वह उनकी सेवा करना चाहता है। यदि वह सर्दियों में ऊनी कपड़े के विविध डिजाइन नहीं रखेगा तो निश्चित है कि उसे कमाई नहीं होगी।

बाजार का हुक्म उसे मानना ही पडता है। उसी प्रकार आज हिन्दी मे धडल्ले के साथ नये-नये बढिया प्रकाशन और नये नये विषय अपना रूप-रग लेकर हजारो की तादाद मे दिखलाई पडते है—वह इसलिए नही कि प्रकाशक उदार हो गया है, या उसकी रुचि परिष्कृत हो गई है। यह सब केवल इसलिये कि साहित्य का बाजार इन सबकी माँग करता है।

आधुनिक साहित्य मे प्रकाशक का प्रवेश लेखक और पाठक दोनो से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका सही विश्लेषण किये बिना आधुनिक साहित्य को ठीक से समझा ही नही जा सकता। प्रकाशक के आगमन से कवि और पाठक का सबध टूट जाता है। कवि अपने पाठक की रूपरेखा नही जानता। पाठक अपने कवि से मिल नही पाता। कुछ कह नही पाता। प्रकाशक को अच्छे-बुरे साहित्य की चिंता क्यो होने लगी? वह तो उसे व्यावसायिक रूप से आँकता है। वह जनता की नब्ज को बिना पहिचाने अपनी दुकान मे कोई नई चीज ले आता है। यदि सयोग से वह चीज अधिक बिक जाती है तो वह उसी को जन-रुचि समझने की भूल कर बैठता है। वह जनता की पाशविक वृत्तियो को उभारने या उत्तेजित करने का पहिले तो वैसा मौका देता है और बाद मे उसीको जनता का वास्तविक स्वभाव मान बैठता है। प्रकाशक के द्वारा जन-रुचि का सही पता लग सकना मुश्किल है। क्योकि अपनी दुकान या अपने व्यवसाय के बाहर उसका समाज से कोई भी प्रत्यक्ष सपर्क नही होता कि जिससे वह जन-भावना के यथार्थ रूप को समझ सके। सामत-युग के कवि का क्षेत्र सीमित अवश्य हो गया था, लेकिन श्रोताओ से उसका सबन्ध विच्छेद नही हुआ था। क्योकि तब कविता सुनाने के लिए कठ और कान की पारस्परिक निर्भरता थी। यदि सुनने वाले कान सामने न हो तो कवि की वाणी अपूर्ण थी।

कविता दिन-ब-दिन वैयक्तिक होती गई। इसलिए नही कि छापे की मशीन ने कवि को व्यक्तिवादी बना दिया, बल्कि जिन सामयिक परिस्थितियो ने छापे की मशीन को आविष्कृत किया, उन्ही सामाजिक परिस्थितियो ने वैयक्तिक भावना का भी पोषण किया। कविता एक सामूहिक उद्वेग और सामूहिक आवश्यकता की सहज अभिव्यक्ति है और यह व्यवस्था सपूर्ण रूप से वैयक्तिक है। 'जाति विचार को भुला कर व्यक्ति को प्रधानता दी जाती है। साहित्य को जगन्नाथ का क्षेत्र समझा जाता है। जहाँ केवल व्यक्ति के प्रवेश को मान्य

समझा जाता है।'[1] समूह यहाँ निरादृत होता है। व्यक्ति पनपता है। समूह के प्रति उपेक्षा बरती जाती है। इसलिए वैयक्तिकता के हाथों पड़ कर इस व्यवस्था में कविता की यही दुर्गति होनी है। वह चिंतन-प्रधान बन जाती है। किताबों से तथाकथित ज्ञान की उसमें बू आने लगती है। दस फुट के कमरे के भीतर ही वह बंद हो जाती है। नये-नये प्रयोगों के बहाने कविता व्यक्ति के स्वर में स्वर मिला कर उसके दुःखों का रोना रोती है। निराशा के गीत गाती है। कवि अपने को सारे संसार द्वारा सताया हुआ अनुभव करता है। समाज के साथ उसे किसी भी रूप में सम्बन्ध दिखलाई नहीं पड़ता। वह सब तरफ से सताया हुआ, निराश्रित और हतभागा महसूस करता है। कविता के बहाने वह समाज को अपने व्यक्तिगत दुःखों का रोना सुनाता है। कभी खुशी या सुख होता है तो उन्हें भी दर्शाता है। कवि की सारी सामाजिक चेतना ताण्डव के पाँवों की तरह उसके भीतर सिमट जाती है। मृत्यु की विभीषिका उसे हरदम छाया की तरह घेरे रहती है। हर अगल साँस के साथ वह स्वयं को मौत के समीप अनुभव करता है। पूँजीवादी कविता जिन्दगी की अपेक्षा मौत को अधिक दुलराती है। इस दुनिया से जीवन ग्रहण करते हुए भी वह एक काल्पनिक दुनिया में विचरण करता है। जिसकी कोई भौतिक या वैज्ञानिक बुनियाद नहीं होती, वह इस पार खड़ा होकर उस पार के सपने देखता है। आध्यात्मिक नाविक का ध्यान करता है। प्रेयसि, सुमुखि, सजनी, प्रियतमा आदि का काल्पनिक चिंतन उसकी कविताओं का प्रमुख विषय है। वह काल्पनिक प्यार के तराने छेड़ता है। और काल्पनिक भाव-जगत से हरदम जुड़ा रहने के कारण उसका शब्द-ज्ञान बहुत ही सीमित रह जाता है। सामाजिक सर्व मान्य शब्दों के साथ वह वैयक्तिक खिलवाड़ करता है। समाज के साथ व्यापक संबंध, यथार्थ प्रेरणा और संघर्षमय-अनुभूति का अभाव होने के कारण उसकी कविता में विषय की ताजगी नहीं रहती। रूप-तत्व की प्रधानता रहती है। विषय गौण हो जाता है। उत्पादन साधनों के विकास की तरह कला की रूप गत शैलियों का विकास तो खूब होता रहता है। होना यह चाहिये कि विषय रूप को अपने हिसाब से स्वयं निर्मित करे। लेकिन पूँजीवादी कला को अपने रूप ही की प्रथम चिंता रहती है। रूप के हाथों विषय जैसा भी सँवर जाय, वह ठीक है। वह निशाने पर गोली नहीं मारता, बल्कि जहाँ गोली लग जाय उसे अपना निशाना मान लेता है।

---

१ साहित्य के पथ पर—रवीन्द्रनाथ ठाकुर—७२ ७३

जिस प्रकार मनुष्य मकान के लिए मकान नही बनाता। रहने की सुविधा के लिए बनाता है। जिस प्रकार सडक के लिए सडक का निर्माण नही होता। सामाजिक सुविधा के लिए, चलने-फिरने की सुगमता के लिए उसका निर्माण होता है। रेल के खातिर जिस प्रकार रेल का आविष्कार नही होता। उसी प्रकार कविता के लिए कविता की बात भी ग्राह्य नहीं। *कला के लिए कला* की बात का कोई सामाजिक आधार नहीं है। फिर भी आधुनिक कलाकार पैसे के लिए कला की बात को मजूर नही करना चाहता। उसके स्वाभिमान को चोट लगती है तब वह कला के लिए कला का नारा बुलन्द करता है। किन्तु वास्तव मे कला के लिए कला की इस बुलन्दगी का अर्थ है—पैसे के लिए कला। स्वार्थ के लिए कला।

पूजी को ही सर्वोपरि मान्यता के रूप मे स्वीकार करने वाले इस आधुनिक सभ्य युग मे सारे मानवीय गुणो को बाजार मे बिकने के लिए विवश होना पडता है। यहाँ ईमानदारी बिकती है। प्रतिभा बिकती है। कला बिकती है। विज्ञान बिकता है। स्नेह और प्यार बिकता है। क्रोध बिकता है। सच्चाई बिकती है। सुन्दरता बिकती है। मनुष्य को जन्म देने वाली माँ तक अपने शरीर का भाव-ताव करने के लिए बाजार मे बैठ जाती है! छि! छि! और: कला पैसे से अछूती रहेगी, इस दुर्भावना का कैसे प्रतिपादन किया जाय? डाक्टर, कवि, वकील, इजीनियर, अध्यापक सभी पैसा कमाने के लिए अपना-अपना पेशा अख्तियार करते हैं। *डाक्टर का सबसे निकट सबन्ध रोगी से है।* पिता, माँ, भाई, पत्नि से भी निकट। लेकिन आज का दक्ष डाक्टर बिना फीस लिए रोगी की बात तक नही सुनना चाहता। समय नही है। उसे न तो रोग की चिता है, और न रोगी की। केवल पैसे के साथ उसका लगाव है। जब डाक्टर तक अपने लोभ की खातिर एक जीवित मनुष्य को अपनी आँखो मरते देख सकता है तब आधुनिक कलाकार का यह दावा कि वह कला के लिए कला की सृष्टि करने बैठा है, कितना उपहासास्पद है। रुपयो के खातिर आज का प्रतिभाशाली होशियार वकील निर्दोष को फाँसी दिलवा सकता है, खूनी को निर्दोष साबित करवा सकता है, तब यदि आज का कलाकार अपनी विशुद्ध कला की बात करता है तो वह आसानी से समझ मे नही आती। डाक्टरी के लिए डाक्टरी और वकालत के लिए वकालत की तरह कला के लिए कला की बात भी बे-बुनियाद है। डाक्टरी, वकालत, कला और विज्ञान इन सब की

वास्तविक सार्थकता, उपादेयता पूंजी से मुक्ति पाने ही मे है। मनुष्य और मनुष्य के समाज की खातिर ही कला और विज्ञान का अस्तित्व है।

पूंजीवादी व्यवस्था मे कलाकार की चेतना पैसे या अपने व्यक्तिगत स्वार्थ द्वारा नियन्त्रित होती है। वह परिस्थितियों का गुलाम होता है। पैसे के लिए अपनी कला की सृष्टि करता है। कला इस तरह के वातावरण मे नही पनप सकती। श्रेष्ठ कला और श्रेष्ठ कविता की उद्‌भावना केवल स्वतन्त्रता के द्वारा ही सम्भव है। और आज का कलाकार गुलाम है। गुलामी प्रतिभा को कुण्ठित कर देती है। उसे अशक्त और प्रभावहीन बना देती है। वैदिक लोक-साहित्य इसीलिए इतना सुन्दर, इतना उच्च और इतना हृदयग्राही है कि उसे सामूहिक उद्वेग द्वारा स्वतन्त्र व्यजना मिली है। और आदिम पुराण-कथाएँ भी इसीलिए इतनी सुन्दर हैं कि उनमे स्वतन्त्र मानव की उन्मुक्त भाव-धारा की जीवन्त अभिव्यक्ति मिली है। दास-युग में स्वामी दास की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र है। उसकी भावनाओं का उद्‌भव अधिक उन्मुक्त होता है। इसलिए वर्ग-समाज के प्रारम्भिक काल म जब तक प्रभु वर्ग स्वतन्त्र रहता है तब तक उच्च साहित्य की सृष्टि होती रहती है। लेकिन सर्वदा के लिए वह स्वतन्त्र रह नही पाता। अतर्विरोधी तत्वो से उत्पन्न वर्ग-सघर्ष का सामना करने के लिए वह शासन-व्यवस्था के जाल म उलझता रहता है। दिन-ब-दिन वह भी परिस्थितियों का गुलाम हो जाता है। गुलाम को गुलाम बना रहने देने की व्यवस्था का गुलाम। सामत-युग के प्रारम्भिक काल मे राजा काफी स्वतन्त्र रहता था। उसे शासन-व्यवस्था के बाद भी बहुत-सारा समय मिल जाता था। तब वह कला और साहित्य की बात सोच सकता था। उस तरफ वैसी चेष्टा कर सकता था। उसके दरबार मे कला, साहित्य और कविता की उन्नति होती रहती थी। एलोरा, अजता और उडीसा के मन्दिर सामतकालीन स्वतन्त्रता द्वारा रचित उच्च कलाकृतियाँ है, जिनका आज दिन भी किसी से मुकाबिला नही हो सकता। सामत-युग मे लोक साहित्य भी साथ-साथ पनपता रहता है। और आज की पूंजीवादी व्यवस्था मे भी जब तक वर्ग-विरोध अपना उग्र रूप धारण नही कर लेता तब तक फिर भी अपनी मर्यादा के भीतर भले साहित्य की सर्जना होती रहती है। लेकिन इस व्यवस्था के अतिम दौर तक तो पहुँचते-पहुँचते कला और साहित्य के पतन की सीमा ही नही रहती। इधर पूंजीपति को अपनी पूंजी बटोरने के सिवाय किसी अन्य काम के लिए फुरसत ही नही। और उधर

लोक-जीवन आर्थिक सकटो मे पिसता रहता है। जिंदा रहना बडा मुश्किल हो जाता है। तब ऐसी स्थिति मे लोक-साहित्य और चिंतन-प्रधान साहित्य दोनो अपने पतन की पराकाष्ठा तक आ पहुँचते है। मध्य वर्ग की व्यवसायी शिक्षा, उसके अनिश्चित सस्कार और उसकी अपरिपक्व मान्यताओं पर साहित्य का ढाचा डगमगाता रहता है। और जब समाज मे अनिश्चित जीवन-समस्याओ के कारण नैतिक-मान्यताएँ पूर्ण रूप से विकृत हो जाती हैं तो वह हीन विकृति नारी के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति पाती है। कला और साहित्य मे नारी की बडी दुर्गति होने लगती है। उसे कही निस्तार नही मिलता। सामत युग की अतिम अवस्था मे कला के द्वारा नारी की यह दुर्गति आरम्भ हो जाती है। और आधुनिक-युग के किनारे तक तो पहुँचते पहुँचते फिर उसकी कोई सीमा ही नही रहती। कोई मर्यादा ही नही रहती। जीवन की प्रत्येक अभिव्यक्ति से नारी-सबधी यह क्षुद्र वासना अपनी जघन्य पाशविकता व्यक्त करती रहती है। कवि महोदय कविता लिखने बैठेंगे तो प्रेयसी की बात गुनगुनाने के सिवाय उनके पास कोई अन्य चारा ही नही। विकृत सयोग और वियोग की क्षुद्र भावना कवि के मस्तिष्क को घेरे रहती है। चित्रकार कोई चित्र बनायेगा तो उसकी विकृत दृष्टि भी नारी के सिवाय और कही नही जाती। आधुनिक भारतीय सिनेमा को तो नारी के सिवाय कुछ और सूझना ही नही। सब कलाओ की विषय-वस्तु नारी। केवल नारी। जघन्य वासना। क्षुद्र काम-भावना। हीन। अश्लील। अमानवीय। लोक-जीवन और लोक-साहित्य पर भी इसका बडा घातक असर होता है।

आर्थिक सकट और बाजार के उतरते-चढते भाव किसान की जिंदगी को बडा अस्थिर बना देते हैं। मौत के साथ लडने ही मे उसकी जिन्दगी बीत जाती है। सुख और जीवन के गीत गाने का उसे अधिक समय ही नही मिलता। लोक-साहित्य का विकास रुक जाता है।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात इस आधुनिक युग की यह है कि उसकी सामाजिक पृष्ठ-भूमि पर एक ऐसे वर्ग का जन्म हुआ जो पहिले के इतिहास मे कभी नही था। वह है—मजूर। दो खाली नगे हाथो के सिवाय अपनी देह को घराने के लिए उनके पास और कोई साधन नही। हजारो, लाखो, करोडो मजूर अपने-अपने खाली हाथ लेकर आधुनिक यत्रो से उलझने को दौड पडते हैं। आधुनिक समाज मे सभी भौतिक मूल्यो का निर्माण वैज्ञानिक यत्रो के जरिये ही होता है।

मजूर के सामी हाथ नये यंत्र बनाते हैं। यंत्रों का संचालन करते हैं। मजूर की मेहनत से सामाजिक उत्पादन होता है। लेकिन उसकी मेहनत से कविता पैदा नहीं होती। संगीतमय कविता अपने स्पर्श से उसकी मेहनत को हलका और मीठा नहीं करती। कारखाने का मजूर मुँह बन्द किये गूंगा होकर काम करता है। काम पर लगने से पहिले, फाटक के बाहर, मजूर की तलाशी ली जाती है। कविता को फाटक के बाहर ही रोक दिया जाता है। मजूर के साथ कविता भीतर प्रवेश नहीं कर पाती। गाने से काम मे खलल पड़ने का अंदेशा है। और सबसे महत्व की बात यह है कि उत्पादन सामग्री में मजूर का कतई हिस्सा नहीं रहता। उसे तो केवल सूखी तनखा मिलती है। तब वह क्यों कविता व संगीत के सहारे पैदावार बढ़ाने की चिंता करे? वह तो स्वयं मशीन की तरह काम करता है। इसलिए मेहनत के साथ कविता का कोई संयोग नहीं रहता। जब कि उत्पादन सामाजिक रूप से होता है, लेकिन उसका वितरण सामाजिक नहीं होता। चंद मालिकों मे ही बँट जाता है। इसके पहिले सामंती प्रथा मे किसान का जमीन के साथ पूरा-पूरा लगाव रहता है। अपने हाथो बोई हुई फसल का हिस्सा उसे मिलता है। वह अपनी फसल को मेहनत और कविता के संयोग से बढ़ाने की चेष्टा करता है। किसान की जिंदगी और उसकी मेहनत से लोक-साहित्य का घनिष्ठ संबंध है।

यह व्यवस्था अब गिनती के सांस ले रही है। सामाजिक उत्पादन पर सारे समाज का अधिकार होगा। यह योग टल नहीं सकता। अपने हाथों पैदा की हुई पैदावार पर मजदूर का पूरा-पूरा हक होगा। वह जीवन-आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ही माल पैदा करेगा, बाजार मे बेचने के लिए नहीं। तब उसकी मेहनत को कविता की आवश्यकता होगी। कविता को मेहनत की अपेक्षा होगी। फाटक के भीतर मजदूर और कविता दोनो प्रवेश करेंगे। मुस्कराते हुए, गाते हुए। इस संयोग के लिए हमे वापिस पीछे सरकने की आवश्यकता नहीं। इन्ही वैज्ञानिक उत्पादन-साधनों की आधार-भूमि पर सब-कुछ व्यवस्थित करना होगा। विज्ञान और कला की समस्त सांस्कृतिक विरासत को अपनाते हुए केवल सामाजिक संबन्धो को बदलना होगा।

उत्पादन-साधनों के विकसित रूप से आधुनिक समाज के भीतर वैविध्य खूब बढ़ जाता है। विविध जीवन के अनुरूप कला और विज्ञान की खूब तरक्की होती है। आधुनिक विविध परिस्थितियों के बीच सामंतयुगीन कविता और

कहानी की वह एकता नष्ट हो जाती है। दोनो की सर्वथा भिन्न सत्ता स्थापित हो जाती है। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, गद्य-गीत, रेडियो, सिनेमा, अर्थ-शास्त्र, मनोविज्ञान, जीव-शास्त्र, व्यवहार-शास्त्र, नीति-शास्त्र, रसायन-शास्त्र आदि के विभिन्न रूपो में कला और विज्ञान का क्षेत्र खूब विकसित होता रहता है। लेकिन इस विविध भिन्नता की सामाजिक आधार-भूमि तो एक ही रहती है। कला और विज्ञान के इन विभिन्न उपांगो में मूलभूत सामाजिक यथार्थ तो समान रूप से विद्यमान रहता है।

आँख की सुविधा के लिए, व्यापक प्रचार के लिए केवल छापेखाने के रूप में इकतरफा ही विकास नही हुआ है। कान की सुविधा के लिए, निर्विलम्ब विश्व-व्यापी प्रचार, और समाज के हित में रेडियो, टेलिविजन, सिनेमा का आविष्कार छापेखाने से कही अधिक महत्वपूर्ण है। समूह के आंतरिक भाव-जगत का आदान-प्रदान करने के लिए छापे के निर्जीव काले अक्षरो से रेडियो का जीवन्त स्वर अधिक उपयुक्त है। लेकिन इन आविष्कारो का सामाजिक-कल्याण के लिए सामूहिक उपयोग अभी शेष है। आज की वैयक्तिक आधार-भूमि पर इससे अधिक सभव भी नही है। केवल उत्पादन-साधनो के सामूहिक अधिकार द्वारा ही इन यत्रो का सामूहिक उपयोग सभव होगा। तब कविता और कान की व्यापक घनिष्ठता पुनः स्थापित होगी। सामूहिक उद्वेग की उपयुक्त मगल-भावना पूर्ण स्वतत्रता के साथ फिर मुखरित होगी। अकेला कवि भी कविता करेगा तो भी उसका रूप वैयक्तिक नही होगा। कवि अपनी सामूहिक जिम्मेवारी को पूरा करेगा। सामूहिक उद्वेग को ही व्यजित करेगा।

कविता ने मनुष्य की आदिम असहाय अवस्था मे दुःख व कठिनाइयो का सामना करने के लिए उसका साथ दिया था। उसे परिस्थिति के साथ जूझने के लिए सामूहिक शक्ति का सबल दिया था। वह फिर निश्चित रूप से मनुष्य की सामूहिक जरूरत पर उसका साथ देगी। अपने साथी से अब उसका अधिक विछोह नही रहेगा। अपनी लय और अपने सगीत से आधुनिक मनुष्य की ताकत को बढायेगी। उसकी सामूहिक शक्ति को उत्प्रेरित करेगी।

कविता का भविष्य उज्ज्वल है। क्योकि मेहनत का भविष्य उज्ज्वल है। मेहनत करने वालो का भविष्य उज्ज्वल है।

अप्रैल १६५६.

आयौ इंगरेज मुलक रै ऊपर[1]

इस मुल्क पर अंग्रेजो के पहिले भी अनेकों विदेशियों ने कई बार हमले किये। इस मुल्क को लूटा-खसौटा और उस पर राज्य किया है। मध्ययुगीन बर्बर आक्रान्ताओ का इस अभागे मुल्क को हमेशा जब-तभी शिकार होना पडा है। सदैव बर्बर हमलो की यातनाओं का इसने सामना किया है, उन्हे सहा है। विश्व-इतिहास के इस मध्य-युग मे सर्वत्र विदेशी हमले, लूट-खसोट, मार-काट तथा घरेलू लडाइयो के रूप मे इसी तरह की बर्बर भावनाओं का प्राधान्य रहा है। लेकिन हिन्दुस्तान की उपजाऊ धरती, प्राकृतिक सुविधाओ तथा उसकी भौगोलिक स्थिति के कारण इन विदेशी हमलावरो का तो कभी अन्त ही नही हुआ। एक के बाद एक हमले होते रहे। पहिले हमले की साँस पूरी ली नही गई कि दूसरा हमला हो गया। सिकन्दर का हमला हुआ और उसके बाद तो भारत के उत्तर पच्छिमी सीमा-प्रान्त से यवनो के निरन्तर हमले होते रहे। हूणो का आक्रमण हुआ। पच्छिमी एशिया से अरबो का आक्रमण हुआ। मध्य एशिया से शको ने चढाई की। बुखारा के तुर्कों का एक के बाद एक हमला होता रहा। मुगलो ने इस देश पर चढाई की, उसे जीता और उस पर शासन किया। ईरान के नादिरशाह व अहमदशाह अब्दाली ने हमले किये और भयकर लूट-खसोट मचाई। महमूद गजनवी और गोरी ने बार-बार आक्रमण किये और तबाहियाँ मचाई। तैमूर और चगेजखाँ के हिंस्र उत्पात भी अपना सानी नही रखते।

---

१ राजस्थानी शोध-संस्थान द्वारा प्रकाशित परम्परा के 'गोरा हटजा' अक को भूमिका—एक ऐतिहासिक विवेचन।

एक के बाद एक चढ़ाई, हमला, विजय, शासन, लूट-खसोट और उत्पात के बीच भी इस देश की जिन्दगी अपने तरीके से चलती रही। देश के जीवन की ऊपरी सतह में हलचल और परिवर्तन होते रहे, पर आन्तरिक व्यवस्था पर इन हमलों व गृह-युद्धों का कोई विशेष असर नहीं हुआ। लेकिन यूरोप के इस अन्तिम आक्रान्ता ने तो हिन्दुस्तान की सम्पूर्ण व्यवस्था को ही जड़ से हिला दिया। उसकी आन्तरिक जिन्दगी में एक भयंकर उथल-पुथल मचा दी, जो पहले के सभी आक्रमणों से सर्वथा भिन्न प्रकार की है।

पहिले के समस्त आक्रमणकारियों व विजेताओं ने भले ही इस देश पर नृशंस अत्याचार किये हों, बर्बरता से उस पर शासन किया हो, बेजोड़ लूट-खसोट की हो, पर इन सबके बावजूद भी कुछ अर्से के बाद वे भारतीय संस्कृति में घुल-मिल से गये, हिन्दुस्तान ही का एक अंश बन कर रह गये। क्योंकि इतिहास का यह शाश्वत नियम रहा है कि बर्बर विजेता देश के मूल निवासियों की उच्च संस्कृति को अनजाने ही स्वीकार कर लेते हैं और सांस्कृतिक दृष्टि से वे पराजित हो जाते हैं। लेकिन अंग्रेज वे पहिले विजेता हैं जिन्होंने भारतीय सभ्यता को स्वीकार नहीं किया। हिन्दुस्तान पर सबसे अधिक समय तक शासन करने पर भी वे इस देश की संस्कृति से सर्वथा अलग रहे और यहाँ की संस्कृति को वे अपने निर्धारित तौर तरीकों से प्रभावित करते रहे, उसे बदलते रहे। इसके साथ उन्होंने यहां के देश वासियों को भी उनकी संस्कृति से बहुत कुछ अंश में विच्छिन्न कर डाला।

अंग्रेज वे पहिले विजेता हैं जिनका लगाव व सम्बन्ध उनकी मातृ-भूमि से ही हमेशा बना रहा। जिन्होंने हिन्दुस्तान के साथ कभी भी अपनत्व महसूस नहीं किया और इसके विपरीत यहाँ के देश वासियों के हृदय में भी देश के प्रति अलगाव उत्पन्न करने को ही उन्होंने हमेशा अपना श्रेय समझा।

सका था। और उनके पश्चात अंग्रेज विजेता की अपनी ऐतिहासिक सुविधाएँ थी जिनके कारण ही पराजित हिन्दुस्तान के साथ उसका यह सर्वथा भिन्न सम्बन्ध स्थापित हुआ जो उसके [भारतवर्ष] पहिले के इतिहास मे कही भी नही मिलता।

हिन्दुस्तान के साथ अंग्रेजो के इस नूतन सम्बन्ध को समझने के लिए यहाँ के गाँवों की तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था को समझना जरूरी है।

अंग्रेजो से पहिले के आक्रमणकारियो की विजय या पराजय के कारण केन्द्रीय सरकार तो बनती-बिगडती रहती थी, परन्तु भारत की प्राचीन ग्राम्य-व्यवस्था मे वे केन्द्रीय परिवर्तन अपना कोई असर पैदा नही कर पाते थे। निरकुश राज-वंशो के बनने तथा मिटने का क्रम तो सदैव जारी रहता था, परन्तु गाँवो की प्राचीन पचायती अर्थ व्यवस्था अपने कदीमी ढर्रे के साथ उसी रूप मे चलती रहती थी।

पश्चिम की तरह हिन्दुस्तान के प्राचीन पचायती समाज से व्यक्तिगत भू-सम्पत्ति और सामन्तवाद का पूर्ण विकास नही हुआ। इस कारण दोनो की आर्थिक व्यवस्थाओ मे आगे चल कर भिन्नता उत्पन्न हो गई।

पश्चिमी और पूर्वी देशो की प्रारम्भिक आर्थिक-व्यवस्था मूल रूप से समान थी, परन्तु उसके बाद अपनी भौगोलिक मर्यादाओ के अनुसार उन्हें विभिन्न रूप धारण करना पडा। और वह तात्विक विभिन्नता इस रूप मे प्रकट हुई कि वहाँ तो प्राचीन पचायती-व्यवस्था से व्यक्तिगत भू-सम्पत्ति तथा सामन्तवाद का पूर्ण विकास होता रहा और हिन्दुस्तान मे एक सीमा तक पहुँच कर उस समान व्यवस्था से भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार और सामन्तवाद के विकास मे अवरोध उपस्थित हो गया।

हिन्दुस्तान मे सामन्तवाद के विकास की अपूर्णता का परिणाम यह हुआ कि केन्द्रीय सरकार और गाँवो की व्यवस्था परस्पर एक-दूसरे को आत्मसात नही कर सकी। शासन की निरकुशता के अलावा दोनो मे पारस्परिक निर्भरता का सम्बन्ध नही रहा। इसलिए अंग्रेजो के पूर्व की केन्द्रीय सरकारो के राज-नैतिक क्षेत्रो में भले ही अनेक तूफान व भयकर उथल-पुथल मचती रही हो, किन्तु उन केन्द्रीय परिवर्तनो मे गाँवो का आर्थिक ढाँचा कभी डगमगाया नही। लेकिन अंग्रेजी शासन ने हिन्दुस्तान के इसी मूल स्थान पर ही जबरदस्त आघात किया। उसकी प्राचीन ग्राम्य-व्यवस्था को, जो सदियो से अक्षुण्ण बनी हुई थी

अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने तहस-नहस कर डाला। हिन्दुस्तान की प्रगति व आगे के विकास के लिए उस पंचायती अर्थ-व्यवस्था का समाप्त होना निहायत जरूरी था, परन्तु विदेशी-साम्राज्यवाद द्वारा जिस रूप मे उसका विध्वंस हुआ, वह निःस्वार्थ रूप से केवल एक अमानुषीय, जघन्य नृशंसता मात्र थी, इसमें कोई सन्देह नहीं।

अंग्रेजों की पाशविकता से अपने क्षुद्र स्वार्थों के खातिर उस प्राचीन ग्राम्य-व्यवस्था का नाश तो अवश्य हो गया, पर उसके बदले में निर्माण नाम मात्र को भी नहीं हुआ। विकास और प्रगति की बात तो दूर, उस विध्वंस-लीला के भग्नावशेष आगे के लिए भी प्रतिगामी तत्वों के रूप मे बहुत अर्से तक प्रगति की राह के बीच अवरोध पैदा करते रहे। आज दिन भी उन रुकावटों से हिन्दुस्तान को छुटकारा नही मिल पाया है।

हिन्दुस्तान के इतिहास मे, अंग्रेजी-पूँजीवाद की विजय के फलस्वरूप एक जबरदस्त विडम्बना यह घटित हुई कि तत्कालीन सामन्तवाद की अविकसित छिन्न विच्छिन्न अवस्था के बावजूद भी जब उसकी सामाजिक पृष्ठ-भूमि मे नवोदित पूँजीवाद का उदय होने वाला था कि इसी बीच अंग्रेजों के राक्षसी पंजे ने उसका गला घोंट डाला। मुगल साम्राज्य के बिखर कर नष्ट हो जाने के बाद उन सभी तबाहियों व अराजकताओं का अन्त एक गुणात्मक परिवर्तन के रूप मे कुछ क्रांतिकारी तत्व ग्रहण करने को था कि अंग्रेजों की कुटिलताओं ने उसे क्षत विक्षत कर डाला।

इस कारण यूरोप की तरह हिन्दुस्तान मे न तो पूँजीवाद का आरम्भ ही हुआ और न उसका विकास ही।

हिन्दुस्तान मे अंग्रेजी पूँजीवाद ने कोई क्रांतिकारी भूमिका अदा नहीं की। पूँजीवाद के नाम पर यहाँ केवल नाश और विध्वंस ही हुआ, निर्माण-कार्य की सभी दिशाएँ अवरुद्ध रहीं। केन्द्रीय सरकार की शासन-व्यवस्था सम्पूर्ण रूप से विदेशी पूँजीपतियों के हाथों मे रही पर हिन्दुस्तान के जन-समाज का पूँजीवाद से वास्ता नहीं रहा।

विदेशी पूँजीवाद की सरकार अपनी कोख मे हिन्दुस्तान के जीर्ण-शीर्ण सामन्ती तत्वों का पोषण करती रही। तत्कालीन पंचायती व्यवस्था को सत्ता के बल पर कृत्रिम तरीके से उखाड फेंका गया और उसके बदले मे सामन्तवाद के प्रतिगामी तत्वों को भी कृत्रिम तरीकों से वे अपने स्वार्थ के खातिर बढ़ावा

देते रहे, उसे अपने हिसाब से बनाते-बिगाड़ते रहे। विकास की सहज गति को बलपूर्वक रुद्ध कर दिया गया और इसके विपरीत विनाश के प्रतिगामी तत्व को सभी दिशाओ से प्रवेश मिलता रहा।

अग्रेज बहादुर की उस दुधारी तलवार ने अपने दुहरे प्रहारो से हिन्दुस्तान को काटना आरम्भ किया। समय और परिस्थितियो के दौरान मे 'अग्रेज बहादुर' अपना रूप बदलता रहा और उसके साथ-साथ उसकी दुधारी तलवार का स्वरूप भी बदलता गया।

अग्रेज वे पहिले विजेता है जिन्होने विजय की लालसा से हिन्दुस्तान की भौगोलिक सीमा मे प्रवेश नही किया, फिर भी सबसे अधिक समय तक उन्होने भारतवर्ष को अपने कब्जे मे रखा।

'अग्रेज बहादुर' ने आरम्भ मे एक साधारण-सी व्यापारी कम्पनी के रूप मे हिन्दुस्तान की धरती पर प्रवेश किया था। सन् १६०० मे उसे हिन्दुस्तान के साथ व्यापार करने का सरकारी परवाना मिला था। 'उस समय उसका यह लक्ष्य कदापि नही था कि अग्रेज कारखानेदारो के लिए एक बाजार तलाश किया जाय, बल्कि उनकी कोशिश थी कि हिन्दुस्तान और पूर्वी-द्वीप समूह मे पैदा होने वाली चीजें, खासकर मसाले और सूती तथा रेशमी कपडे उन्हे मिल जाएँ। इन चीजो की इगलैण्ड और योरोप मे बडी माग थी। इस तरह हेरफेर करने और माल मिल जाने पर मुनाफा ही मुनाफा था।'†

कुछ साहसी सौदागरो के रूप मे अपने नग्न स्वार्थ की खातिर, केवल अपनी और अपने परिवार वालो की पटभराई के लिए कम्पनी ने हिन्दुस्तान की व्यापारी वस्तुओ का सहारा लिया था।

फिर भी 'हिन्दुस्तान से यह सब माल लेने के लिए बदले मे उसे भी कुछ देना जरूरी था। कम्पनी के सामने शुरू से ही यह समस्या रही। सत्रहवी सदी के शुरू मे इगलैण्ड जिस मजिल तक पहुँचा था, उसमे यह सम्भव नही था कि हिन्दुस्तान की चीजो की बराबरी मे वह कुछ दे सके। उस कीमत की और उतनी अच्छी चीजें उसके पास थी नही। उस समय ऊनी कपडो का धधा ही विलायत मे होता था और ऊनी कपडो की हिन्दुस्तान को ज्यादा जरूरत न थी। इसलिए हिन्दुस्तान का माल खरीदने के लिए अग्रेजो को कीमती धातुएँ निकालनी पडती थी।'†

'ईस्ट इण्डिया कम्पनी को शुरू मे ही इस बात का विशेष अधिकार मिल

गया कि वह हर साल तीस हजार पौंड [लगभग तीन लाख रुपये] कीमत का सोना-चाँदी और देशी सिक्के बाहर भेज सकती है। लेकिन सौदागरों का पूंजीवाद इस तरह की व्यवस्था से कुढ रहा था। ये कीमती धातुएँ उसकी समझ में देश की सच्ची दौलत थी। व्यापार का असली उद्देश्य मुनाफा कमाना था जिस की कसौटी यह थी कि यह असली दौलत या कीमती धातुएँ कितनी हाथ लगी। कम्पनी के ये उठाईगीर सौदागर शुरू से ही इस मसले को हल करने में लगे थे कि किस तरह हिन्दुस्तान का माल थोड़े पैसो में या मुफ्त ही हथियाया जा सकता है।'†

मुफ्त में हथियाये जाने के उस निकृष्ट स्वार्थ को व्यावहारिक रूप देने के लिए कम्पनी के सौदागरो को सीधे रूप से भारतीय उत्पादकों से साबका पड़ना था। वे धीरे-धीरे परिस्थितियों के दौरान में उनमें जोर-जबरदस्ती भी करने लगे।

भारतीय उत्पादकों के साथ जोर-जबरदस्ती के उन पारस्परिक झगड़ो का सीधा परिणाम यह हुआ कि मजबूर होकर कम्पनी को ताकत की आजमाइश के लिए तलवार का सहारा लेना पड़ा। और उस तलवार का जोर बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक बढ़ा कि उन छुटपुटे सौदागरों की कम्पनी ने 'कम्पनी बहादुर' का सैनिक रूप धारण कर लिया। यहाँ तक कि हिन्दुस्तान के राजनैतिक मामलो में भी उसकी दखलन्दाजी दिनों दिन बढ़ने लगी। बढ़ती हुई शक्ति के साथ-साथ उसका लूटपाट का हौसला भी दिन-ब-दिन बढ़ने लगा। और यों कम्पनी में तथाकथित व्यापार और लूट दोनों में सिवाय शाब्दिक अन्तर के कोई व्यावहारिक रूप से अन्तर था भी नही। व्यापार के साथ लूट व डकैती के सभी कार्य जुड़े हुए थे, परंतु धीरे धीरे व्यापार का हिस्सा तो और भी कम होता गया और लूट-खसोट का हिस्सा तेज रफ्तार के साथ बढ़ता ही गया। इस क्रम का सीधा परिणाम यह हुआ कि 'कम्पनी बहादुर' के जिम्मे केवल लूट ही शेष बच रही और व्यापार नाम की चीज उसके कार्य-क्षेत्र से सर्वथा लोप हो गई।

व्यापारियों के इसी 'इन्साफी' व नैतिक व्यवहार से तंग आकर सन् १७६२ में बंगाल के नवाब ने कम्पनी से शिकायत की थी कि 'ये लोग रैयत [किसान] और व्यापारियों वगैरह का माल-असबाब चौथाई कीमत पर जबरदस्ती उठा कर ले जाते हैं। साथ ही रैयत वगैरह पर जुल्म और मार-पीट करके वे एक रुपये की चीज पाँच रुपये में बेचते हैं।'† हिन्दुस्तान की आम जिन्दगी में कम्पनी

ने कलह और उत्पात मचाना आरम्भ कर दिया। अंग्रेज सौदागरो ने आरम्भ में हिन्दुस्तान के शक्तिशाली, सत्ताधारी शासकों, नवाबों व ठाकुर-महाराजाओ से सीधे रूप से लडाई नही ठानी, बल्कि वहाँ के जन-साधारण से लूट-खसोट के रूप मे वे अपनी ताकत आजमाते रहे। और हिन्दुस्तान के शासक-वर्ग ने कम्पनी द्वारा जन-जीवन के उत्पातो पर काफी हद तक उदासीनता ही बरती। क्योकि आमने-सामने मुकाबला नही होने की वजह से वे कम्पनी को शत्रु रूप मे पहिचान नही सके। इस असावधानी व नासमझी के फलस्वरूप कम्पनी की ताकत बढती ही गई। आम जनता की लूट के धन से उसकी शक्ति केन्द्रित होती गई।

'अंग्रेज लोग अपने बनियो और काले गुमाश्तो के जरिये मनमाने ढग से तय कर देते हैं कि माल बनाने वाला आसामी उन्हे किस भाव पर कितना माल बेचेगा ..बेचारे जुलाहे की रजामन्दी जरूरी नही समझी जाती। कम्पनी का कारबार करने वाले गुमाश्ते अक्सर चाहे जैसे कागज पर उनसे दस्तखत करा लेते हैं। यह भी देखा गया है कि अगर जुलाहे यह कीमत नहीं लेते तो उनके पैर बाँध कर उन्हे बेंतो से पीटा जाता है। ..आम तौर से बहुत से जुलाहो के नाम कम्पनी के गुमाश्तो की बहियो मे दर्ज होते हैं। उन्हे इस बात की इजाजत नही होती कि वे दूसरो के लिए कपड़ा बुनें। वे गुलामो की तरह एक गुमाश्ते से दूसरे के हाथ बेच दिये जाते हैं।.. इस महकमे मे कितनी बदमाशी होती है, वह कोई सोच नही सकता, लेकिन वह आखिर मे गरीब जुलाहे के मत्थे जाती है। कम्पनी के गुमाश्ते और उनसे मिले हुए जाचनदार [कपडो की जाच करने वाले] जो भाव तय कर देते है, वह खुले बाजार की दर से पन्द्रह फी सदी और कभी कभी चालीस फी सदी तक कम होता है।'[1]

कम्पनी के इन अत्याचारों के कारण कुछ भारतीय जुलाहे तो हद तक परेशान हो गये कि उन्हें मजबूर होकर अपने हाथो के अगूठे अपने ही हाथो से काट डालने पडे ताकि वे कम्पनी के काम की जिम्मेदारी झेल न सकें। क्योकि उन्हें सस्ते दामो, जबरदस्ती काम सौंप दिया जाता था जो उन्हें किसी भी कीमत पर पोसाता नही था। वे जी-तोड मेहनत करते थे और उसके बदले मे भरपूर नुकसान उठाना पडता था। काम समय पर पूरा न होने पर भी मार खानी पडती थी सो ब्याज मे। मजबूरी क्या नही सिखा सकती? नुकसान व

मार से बचने के लिए उन्हें अपने अंगूठे काट फेंकने को विवश होना पड़ा। आवश्यकता आविष्कार की जननी है!

कम्पनी बहादुर के पास यह हुनर था कि वह नित्य नये दांव पेंचों से हिन्दुस्तान की धरती पर इस तरह की नई-नई आवश्यकताएँ पैदा करती रहे। और भारतवासी उन आवश्यकताओं की खोज में अंगूठे काटने के समान नये-नये आविष्कारों को जन्म देते ही गये। उन 'आविष्कारों' का एक दिन सहज परिणाम यह हुआ कि हिन्दुस्तान अपने परम्परागत ज्ञान को भूल गया, अपनी विद्या को गँवा बैठा। अपनी कला, संस्कृति व अपने उद्योग-धंधों से कट कर अलग हो गया। दिन-ब दिन उसकी दरिद्रता बढ़ती गई। दिन-ब दिन कम्पनी की सम्पन्नता में वृद्धि होती गई। उन्होंने यहीं के जीवन में अपने को शक्तिशाली बनाया, अपने को अर्थ-सम्पन्न बनाया। आम लोगों से रुपया बटोरते-बटोरते वे उस दौरान में यहाँ तक ताकतवर हो गये कि मौका आने पर नवाबों व सूबेदारों से टक्कर लेना उन्होंने शुरू कर दिया।

एक बात सबसे महत्वपूर्ण यह है कि अंग्रेजों की ताकत स्वयं अंग्रेज नहीं थे। उन्होंने भारतीय ताकत के उपयोग से ही भारतवर्ष को जीता और उस पर शासन किया। मुगल साम्राज्य की केन्द्रीय सत्ता के निर्बल होने पर हिन्दुस्तान का कृत्रिम संघटन तत्काल ही ढह पड़ा। घरेलू लड़ाइयाँ, आपसी कलह, लूट-खसोट आदि अराष्ट्रीय भावनाओं के बीच अंग्रेजों को व्यक्तिगत स्वार्थों से अनुप्रेरित हिन्दुस्तानियों को अपनी ओर मिलाने के लिए अधिक कष्ट उठाना नहीं पड़ा। एक दूसरे को आपस में लड़ा कर ही अंग्रेजों ने आसानी से हिन्दुस्तान को जीत लिया।

आपसी फूट, द्वेष और निम्न स्वार्थों ने विदेशियों के सिर पर अपने ही हाथों से ताज पहिना दिया।

प्लासी की लड़ाई में अंग्रजी ताकत के भरोसे एक क्या हजार क्लाइवों का जीतना नामुमकिन था, परन्तु मीरजाफर, अमीचन्द और दुर्लभराय ने क्लाइव का काम बिलकुल ही आसान कर दिया। विश्वासघातियों के भरोसे क्लाइव ने सोते सोते मैदान मार लिया। प्लासी के युद्ध की जीत से कम्पनी में एक गुणात्मक परिवर्तन आ गया। भारतवासियों की आपसी फूट का पूरा विश्वास पाकर अंग्रेजों को अपनी बहादुरी पर भी झूठा विश्वास हो गया। और वे 'कम्पनी बहादुर' के नाम से प्रसिद्ध हो गये।

सन् १७५७ मे वगाल के नवाब सिराजुद्दौला को प्लासी के मैदान मे अपने 'विश्वासपात्र द्रोहियो' के कारण हार मजूर करनी पडी। उसके पश्चात् नवाबी ;ः आपसी टटो का लाभ उठा कर सन् १७६५ मे वगाल, विहार और उडीसा की दीवानी कम्पनी के अधिकार मे आ गई। व्यापार के अतिरिक्त मालगुजारी वसूल करना कम्पनी का एक मुख्य काम हो गया। इस वहाने लूटमार का सीधा रास्ता कम्पनी के हाथ लग गया। 'और फिर अठारहवी सदी के पिछले तीस वर्षों मे इस तरह वेशर्मी से खुल कर लूट हुई कि इतिहास मे कम्पनी का नाम अमर हो गया।' 'सन १७८४ मे कामन्स सभा [हाउस ऑफ कामन्स] के एक प्रस्ताव मे कहा गया था :

'जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी वनी थी तव उसका राजनीतिक या व्यापारिक उद्देश्य जो कुछ भी था, उससे वह एकदम विमुख हो गई है। पार्लमिंट ने जो जाँच की है उससे पता लगा है कि कम्पनी के कारवार मे जवरदस्त वेईमानी होती है। सरकारी परवाने स उसे युद्ध करने और सन्धि करने की जो शक्ति दी गई थी उसका उसने दुरुपयोग किया है। लूटमार करने के लिए उसने हर जगह युद्ध की आग भडकाई है। और जितनी सन्धियाँ की है उनको वरावर तोडा है। जो प्रान्त पहिले खाते-पीते और खुशहाल थे, वे अव धन-जन-हीन और निर्वल हो गये है।'†

सन् १८५८ मे जार्ज कार्नवाल लीविस ने पार्लमिंट म कहा था :

"मैं अत्यन्त विश्वासपूर्वक कह मकता हूँ कि ऐसी वेईमान, दगावाज और लुटेरी सरकार दुनिया के पर्दे मे कोई नही रही, जैसी १७६५ मे १७८४ तक यह ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार रही है।'†

कम्पनी के सौदागरो की चेष्टा वनी रही कि हिन्दुस्तान को एक कानी कोडी दिये विना ही वे उसकी दौलत वाहर भेजते रहे। अपने कुटिल व्यवहारो के कारण वे अपनी चेष्टा मे सफल रहे। प्लासी की लडाई ने उनका काम और भी हल्का कर दिया। उन्हें साफ मार्ग दिखाई पडने लगा कि उन्हें किस गति से व किस दिशा की ओर आगे बढना है। '१७६४ ६५ मे, वगाल के आखिरी हिन्दुस्तानी शासक के राज्य मे ८ लाख १७ हजार पौण्ड मालगुजारी वसूल की गई थी। कम्पनी की हकूमत के पहिले साल, १७६५ ६६ मे १४ लाख ७० हजार पौण्ड मालगुजारी वसूल की गई। १७७१-७२ मे यह वढ कर २३ लाख ४१ हजार पौण्ड हो गई और १७७५-७६ मे २८ लाख १८ हजार पौण्ड तक

पहुँच गई। १७९३ में जब लार्ड कार्नवालिस ने 'पक्का बन्दोबस्त' किया तब ३४ लाख पौण्ड मालगुजारी तय की गई।'†

'दुसमण देशां लूट कर'—इस रूप मे हिन्दुस्तान की सम्पत्ति 'परदेस' म जाया करती थी। सोने के बंगाल को किस तरह मिट्टी में मिलाया गया होगा, उसकी मर्मान्तक कल्पना का अन्दाज, कम्पनी की प्रारम्भिक लूट के जरिये लगाया जा सकता है। और इसके विपरीत अकिंचन ब्रिटेन किस तरह हिन्दुस्तान की दौलत से हीरे-जवाहरातों का देश बनता गया, उसका क्रमिक ब्योरा भी आसानी से समझ मे आ जाता है।

'एक खास ध्यान देने की बात यह है कि हिन्दुस्तान के वे हिस्से, जो अंग्रेजो के कब्जे मे सबसे अधिक समय तक रहे हैं, आज वे ही सब से ज्यादा गरीब हैं। वास्तव मे एक ऐसा नक्शा तैयार किया जा सकता है जिससे ब्रिटिश राज्य-काल के माप और क्रमश निर्धनता की वृद्धि का घनिष्ठ सम्बन्ध प्रकट हो। कुछ बड़े शहरों से या कुछ नये औद्योगिक प्रदेशों से इस जाँच में कोई बुनियादी अन्तर नही आता। जो बात ध्यान देने की है वह यह है कि कुल मिला कर आम जनता की हालत क्या है, और इस बात मे कोई सदेह नहीं है कि हिन्दुस्तान के सबसे ज्यादा गरीब हिस्से बंगाल, बिहार, उड़ीसा और मद्रास प्रेसीडेंसी के हिस्से हैं। रहन-सहन का सबसे अच्छा मापदंड पंजाब में है। अंग्रेजों के आने से पहले बंगाल निश्चित रूप से एक धनी और समृद्धिशाली प्रांत था। इन विषमताओं के कई कारण हो सकते हैं। लेकिन यह बात समझ पाना मुश्किल है कि बंगाल, जो इतना धनी और समृद्धिशाली था, ब्रिटिश शासन के १८७ वर्षों मे [यह हिसाब, जून १९४४ से, जब कि यह किताब लिखी जा रही है, लगाया गया है] अंग्रेजो द्वारा उसकी दशा सुधारने और वहाँ की जनता को खुद मुख्तारी की कला सिखाने की जबरदस्त कोशिशों के बावजूद, आज गरीब, भूखे और मरते हुए लोगों का भयानक समूह है।

'हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश शासन का पहिला पूरा अनुभव बंगाल को हुआ। उस राज्य की शुरूआत खुल्लम-खुल्ला लूट मार से हुई, और उससे ज्यादा से ज्यादा जमीन का लगान सिर्फ जिन्दा किसान से ही नही बल्कि उसके मरने पर भी वसूल किया जाता था।'$

'अंग्रेजो के दिमाग मे दौलत के लिए इतना जबरदस्त लालच भरा था कि कार्टिज और पिजारो के युग के स्पेनवासियों के समय से लेकर आज तक उसकी

मिसाल नही मिल सकती। खास तौर से बगाल मे तो उस वक्त शान्ति नही हो सकती थी, जब तक कि वह चुसते-चुसते खोखला न रह जाय।' 'ब्रिटिश हिन्दुस्तान के शुरू के इतिहास का ध्यान आता है, जो कि शायद दुनिया भर मे राजनैतिक छल की सबसे बडी मिसाल है।*

अग्रेजो के इस बेमिसाल राजनैतिक छल और बगाल की लूट व तबाही के बीच ही बगाल को एक और दुर्भाग्य का सामना करना पडा। वह था सन् १७७० का भयकर अकाल। इस अकाल के प्राकृतिक कारण तो नाम मात्र को थे। उसका विकट परिणाम केवल अग्रेजो की क्रूरता और उनके हीन स्वार्थों के कारण ही घटित हुआ था। सूबे की एक तिहाई आबादी को वे खा गये। उनके लालच के कारण लगभग एक करोड आदमी तडफ-तडफ कर मर गये। कम्पनी की कलकत्ता-समिति ने १२ फरवरी १७७१ को अपनी रिपोर्ट मे साफ बयान किया है कि 'पिछला अकाल बडा भयानक था और उससे बहुत से आदमी मारे गये, फिर भी इस साल बगाल और बिहार के सूबो की मालगुजारी मे कुछ बढती हुई है।' वारेन हेस्टिग्ज ने इसका हवाला अपनी रिपोर्ट मे इस प्रकार दिया था

'सूबे की एक-तिहाई आबादी काम आई और इससे खेती भी कम हुई, फिर भी १७७१ मे जो नकद मालगुजारी वसूल की गई, वह १७६८ से भी ज्यादा थी।...यह आशा करना स्वाभाविक था कि इतनी बडी विपत्ति का जो फल होगा उसके अनुसार मालगुजारी भी कम होगी, लेकिन वह कम नही हुई। इसका सबब यह था कि जोर-जबरदस्ती से उसे कम नही होने दिया गया।†

'पुराने जमाने मे बगाल के इलाके, लोगो के लिए खलिहान के समान थे। पूरब मे यह प्रदेश तैयार माल, व्यापार और दौलत का खजाना था।' लेकिन अग्रेजो के 'बुरे ढग ने इस जोर शोर से काम किया कि बीस साल के थोडे से अर्से मे ही बहुत से इलाके वीरान हो गये हैं। खेत जोते नही जाते। बहुत सी जमीन पर जगली झाडियाँ उग आई हैं। किसानो को लूटा जाता है। कारीगरो को सताया जाता है। लोगो को बार बार अकाल का सामना करना पडता है और आबादी का मिटना शुरू हो गया है।‡

बगाल ने मरते मरते भी इगलैण्ड के जीवन मे जान बख्श दी। सब तरह की मुसीबतो व तबाहियो के बावजूद यह उसीका श्रम है कि उसने ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति को सम्भव बनाया। अग्रेजो के सम्पर्क मे हिन्दुस्तान के उद्योग-

ि हिन्दुस्तान की। उधर लोहे के उद्योग-धधे १७५० के लगभग गिरते जा रहे थे क्योंकि ईंधन के लिए जगल खतम किये जा रहे थे। उस समय राज्य मे जितना लोहा खर्च होता था उसका ⅘ भाग स्वेडेन से आता था।

'प्लासी की लड़ाई १७५७ मे हुई। शायद उसके बाद ऐसी कोई घटना नही हुई जिससे इतनी तेजी से परिवर्तन हुआ हो। १७६० मे फ्लाइग-शटल सामने आई और लोहा गलाने के लिए लकडी के बदले कोयले से काम लिया जाने लगा। १७६४ मे हारग्रीव्स ने स्पिनिंग जेनी [कातने की मशीन] का आविष्कार किया, १७७६ मे क्रॉम्पटन ने खच्चर मशीन चलाई, १७८५ मे कार्टराइट ने ताकत से चलने वाला करघा [पावर लूम] पेटेण्ट कराया और इन सबसे बढ कर १७६८ मे वाट ने भाप के इजन का काम पक्का किया जो शक्ति को केन्द्रित करने का सबसे अच्छा तरीका था। जमाने की तेज रफ्तार को इन मशीनों से एक जरिया मिला लेकिन उस तेज रफ्तार का कारण ये मशीनें नही थी। अपने आप से आविष्कार कुछ नही कर सकते। बड़े महत्व-पूर्ण आविष्कार सदियो तक बेकार पड़े रहे हैं और इस बात का इन्तजार करते रहे हैं कि इतनी शक्ति सचित हो जाय कि वे चालू हो सकें। यह सचित शक्ति हमेशा धन की होती है और ऐसे धन की नही जो गाड कर रक्खा जाय, बल्कि उस धन की जो चालू हो। हिन्दुस्तान का खजाना हाथ लगने के पहले इस काम के लिए आवश्यक धन की शक्ति नही थी। इसी के बाद महाजनी व्यापार भी फैलने लगा। अगर वाट पचास साल पहले इजन बनाता तो वह और उसका आविष्कार दोनो नष्ट हो जाते। शायद जब से दुनिया शुरू हुई, पूँजी लगाने से कभी इतना फायदा नही हुआ जितना कि हिन्दुस्तान की लूट से अग्रजो को हुआ। करीब पचास साल पहले उनसे होड करने वाला कोई था ही नही। १६६४ से लेकर १७५७ मे प्लासी की लड़ाई तक रेंग-रेंग कर तरक्की हुई। १७६० से १८१५ तक बहुत बड़े पैमाने पर और बड़ी तेजी से विकास हुआ।'

हिन्दुस्तान मे फिरगी साम्राज्य की स्थापना के पहिले उसने कभी भी अपनी आजादी खोई नही थी। वह अपने इतिहास मे पहली बार एक विदेशी राष्ट्र का गुलाम बना। फिरगियो के पूर्व के विजेता धीरे धीरे यही के वासिन्दे हो गये थे। उन्होंने यही की जिन्दगी मे अपने आप को सम्मिलित कर लिया था। केन्द्रीय निरकुशता व शोषण के बावजूद भी देश का पैसा देश ही मे रहता था। वह कभी भी ऐसे आर्थिक या राजनैतिक शिकजे मे नही कसा गया

कि जिसका सचालन केन्द्र उसकी भौगोलिक सीमाओ से दूर किसी विदेशी सत्ता के हाथ मे रहा हो। वह कभी भी ऐसे शासक वर्ग के अधीन नहीं रहा जो सम्पूर्ण सामाजिक क्षेत्रो मे सभी प्रकार से उसका प्राणघातक विरोधी रहा हो। फिरगी शासन का भारतीय विकास व प्रगति से चिर विरोध था। हिन्दुस्तान को निर्धन बना कर ही वे आर्थिक रूप से सपन्न हो सकते थे। हिन्दुस्तान के विकास को रोक कर ही वे आर्थिक व सामाजिक रूप से विकसित हो सकते थे। कुछ ही वर्षों मे हिन्दुस्तान, इगलैण्ड-वासियो की जिन्दगी व मौत का केन्द्र बन गया। वहाँ के तेजी से हो रहे औद्योगिक विकास का सीधा सा मतलब यही था कि भारत के उद्योग-धधो को सर्वथा चौपट कर दिया जाय। हिन्दुस्तान मे फिरगी राज्य के इतिहास को समझने की यही मूल कुजी है—

आयो इगरेज मुलक रै ऊपर, आहस लीधा खेचि उरा।

यह इस रूप मे हमारे मुल्क पर आया था। उसने इस रूप मे हम पर शासन किया। और सारे देश के जिस्म की चेतना को इस तरह निष्प्राण बनाना ही उसकी एक मात्र चारित्रिक विशेषता थी। उसकी सचालन विधि के इस मूल मत्र को ठीक से समझे बिना उसके कार्य-व्यापारो को सही रूप से आंका नहीं जा सकता।

हिन्दुस्तान मे अग्रेजो की सदा केवल एक ही नीति रही है—उसका ज्यादा से ज्यादा आर्थिक शोषण। मूल रूप से उनकी नीति मे तो कभी तब्दीली नहीं हुई पर शोषण के तरीके, परिस्थितियो के अनुरूप हमेशा बदलते रहे हैं। आरम्भ मे हिन्दुस्तान के माल को बाहर बेच कर वे अपना स्वार्थ पूरा करते थे पर कुछ समय बाद उसके माल की खपत को रोकने मे उन्हे लाभ की सभावना दीख पडी तो उन्ह यहाँ के व्यापार को ठप्प भी करना पडा। उनकी शासन-पद्धति के इस गत्यात्मक क्रम की जानकारी ही तत्कालीन इतिहास की सही जानकारी है।

इगलैण्ड मे उठते हुए समय के साथ एक दिन यह स्थिति पैदा हुई कि सामती सम्बन्धो से जुडे हुए वहाँ के कुछ मनचले साहसी सौदागरो को हिन्दुस्तान के माल की दलाली करने को मजबूर होना पडा। उन्होने हिन्दुस्तान मे आकर व्यापार की शुरुआत की। मौके का लाभ उठाते हुए उन्होने व्यापार के साथ लूट खसोट को भी जोड दिया। यह लूट का माल इगलैण्ड पहुँचा तो वहाँ की सामाजिक स्थिति मे एक बुनियादी गुणात्मक परिवर्तन हुआ। जब

वहाँ की सामाजिक स्थिति मे वह आधारभूत परिवर्तन हुआ तो उसके अनुरूप उन्हें हिन्दुस्तान मे भी अपनी स्थिति बदलनी पड़ी। मुद्दे की बात यह है कि हिन्दुस्तान मे फिरंगियो की शासन पद्धति मे मूल रूप मे उनका अपना ही स्वार्थ निहित है। यहाँ के निवासियो की भलाई व सुख-सुविधा के खातिर उन्होने कभी कुछ भी नही किया। उन्होने तो केवल अपनी भलाई को लक्ष्य मे रख कर ही यहाँ शासन किया था। फिर भी भारत मे प्रगति व विकास के बहुत-सारे कार्य हुए है। परन्तु वे सभी कार्य उनकी वजह से नहीं, उनके बावजूद हुए हैं। उनके बिलकुल नहीं चाहने पर भी उन 'सद्-कार्यों' को अस्तित्व मे आना पड़ा। अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर कार्य की शुरूआत के लिए ही वे स्वतन्त्र थे पर बाद के परिणामो पर नियन्त्रण रख सकना उनके वश की बात नही थी। जहाँ उनका वश नही था उसके लिए उन्हे श्रेय नही दिया जा सकता। यह उनकी विवशता थी कि हिन्दुस्तान को विकास की ओर गतिशील होना पड़ा, अन्यथा उनके चरित्र का वास्तविक रूप तो बर्क के शब्दो मे स्पष्टतया अंतर्निहित है कि 'अगर हम आज हिन्दुस्तान से निकाल दिये जायें तो वहाँ कोई भी ऐसी चीज न रह जायगी जिससे मालूम हो कि हमारी हुकूमत के मनहूस जमाने मे वहाँ चीतो या गुरिल्लो के अलावा आदमियो ने भी राज्य किया था।'

—

भावना पर विजय थी। और जब इगलैण्ड के पूँजीवादी उद्योगपतियो ने वहाँ की सामन्ती ताकत को परास्त करके उस पर हमेशा के लिए विजय प्राप्त करली तो कम्पनी के आश्रित हिन्दुस्तान के भू-भाग पर भी उनका कब्जा हो गया और उन्होने अपने तरीकों से हिन्दुस्तान का शोषण किया जो कम्पनी के तरीको से पूर्णतः विरोधी थे। हिन्दुस्तान के बाहर इगलैण्ड की बदली हुई हर परिस्थिति ने वापिस हिन्दुस्तान को प्रभावित किया है।

इस गत्यात्मक क्रम का सहज परिणाम यह हुआ कि कम्पनी के निरकुश एकाधिपत्य को समाप्त होना पड़ा और उसकी जगह स्वच्छन्द व्यापार के पूँजीवाद ने लेली। इन नये पूँजीपतियों की 'नई जरूरत' को पूरा करने के लिए हिन्दुस्तान मे एक ऐसा बाजार बनाना था जो कम्पनी के एकाधिकार के बदले सबके लिए खुला हो। यह जरूरी हो गया कि हिन्दुस्तान तमाम दुनिया को सूती माल भेजने के बदले अब खुद उसका ग्राहक बन जाय। इसका मतलब था हिन्दुस्तान की आर्थिक व्यवस्था मे परिवर्तन हो। इसका यह मतलब भी था कि कम्पनी की व्यवस्था मे एकदम उलट-फेर हो। हिन्दुस्तान के शोषण के तरीको मे परिवर्तन करना जरूरी था और वह परिवर्तन कम्पनी के एकाधिकार से फायदा उठाने वाले सेठो के जबरदस्त विरोध के बावजूद करना था। ऐस तमाम लोग जो कम्पनी के एकाधिकार का विरोध करते थे, एक साथ मिल गये और उन्होने कम्पनी के खिलाफ जोरो से धावा बोल दिया। इस समय कम्पनी के खिलाफ तमाम मसाला इकट्ठा किया गया। साम्राज्यवाद की कलई खोलने के लिए इतना पूर्ण, विस्तृत और अधिकारी साहित्य किसी भी युग मे नही मिलता।[1]

कम्पनी के द्वारा हिन्दुस्तान से जो कपड़ा आता था उससे वहाँ के नये मिल मालिकों के माल की खपत नही हो पाती थी। कम्पनी से उसका यही विरोध था। सन् १७२० मे उन्हे इस बात मे सफलता मिली कि वे हिन्दुस्तान का रेशमी कपड़ा और छपा हुआ कैलिको इगलैण्ड मे आना बिलकुल बन्द करदे। हिंदुस्तान से जो भी सूती माल आता था उस पर बहुत भारी चुगी लगा दी गई, तब कम्पनी हिन्दुस्तानी कपडो का व्यापार योरोप से करने लगी और अग्रेजी बन्दरगाह सिर्फ माल बाँटने के अड्डे बन गये।[†]

लेकिन कम्पनी के प्रति नये मिल-मालिको का विरोध यही पर आकर समाप्त नही हो गया, उनका विरोध जारी था। उन्नीसवी सदी के आरम्भ मे

उन्होने कम्पनी पर बहुत हद तक सफलता प्राप्त करली। सन् १८१३ से इगलैण्ड के औद्योगिक पूंजीपतियो के शोषण का नया अध्याय हिन्दुस्तान मे आरम्भ होता है। कम्पनी के सौदागर मुफ्त मे हिन्दुस्तान का माल बाहर बेचने की चेष्टा करते थे तो उसकी जगह इन नये उद्योगपतियो ने माल तैयार करने वाले भारतीय उद्योग धन्धो को ही नष्ट करने मे अपना भला समझा। 'उस समय तक हिन्दुस्तान का रेशमी और सूती माल विलायत मे अग्रेजी कपडो के मुकाबले मे ५० फी सदी से लेकर ६० फी सदी तक कम कीमत पर बेचा जा सकता था। इसलिए यह जरूरी हो गया कि ७० और ८० फी सदी तक चुगी लगा कर अग्रेजी माल की रक्षा की जाय, यानि हिन्दुस्तान का माल बिकने ही न दिया जाय। अगर ऐसा न होता, अगर यह जबरदस्त नाकाबन्दी करने के लिए यो चुगी न लगाई जाती तो पैसले और मैनूचेस्टर की मिलें तभी बन्द हो जाती और उन्हे भाप की ताकत भी चालू न कर पाती। हिन्दुस्तान के उद्योग को बलिवेदी पर चढा कर ही ये मिलें चालू हो पाईं।'†

और उस समय केवल मशीनो का जोर ही काफी नही था कि जिसके जरिये उत्पादित कपडो से भारत का बाजार भरा जा सके, तोपो और बन्दूको का जोर आवश्यक था। अग्रेजो ने सत्ता के बल पर तलवार की ताकत से अपनी मिलो के कपडे को हिन्दुस्तान मे भर दिया। पाशविक ताकत के जरिये यहाँ के उद्योग धन्धे मिटा दिये गये। उद्योग धन्धो के साथ लाखो मनुष्यो की जिंदगी जुडी हुई थी, वह तबाह हो गई। एक साथ देश मे बेकारी और निर्धनता बढी। इगलैण्ड मे एक साथ लाखो मनुष्या को रोजगारी मिली। धन सचित होने लगा। अग्रज व्यापारियो को स्वच्छद व्यापार की आजादी मिली और भारत के व्यापारियो की स्वतन्त्रता का कानून के जरिये अपहरण कर लिया गया। इगलैण्ड की औद्योगिक स्वतन्त्रता भारत की गुलामी पर पूर्णतया मुनस्सर थी। वहाँ की उत्पादन शक्ति के विकास का मूल विधान था—हिन्दुस्तान के उद्योग-धन्धो का खात्मा। इगलैण्ड की राजनीति का सीधा और प्रमुख आधार हिन्दुस्तान को बनना पडा। भारत इगलैण्ड की जिन्दगी का आधार बना तो इगलैण्ड ने भारत की मौत का सामान जुटाया।

अठारहवी सदी के बीच तक इगलैण्ड एक खेतिहर देश बना हुआ था और उन्नीसवी सदी के आरम्भ होने तक वह औद्योगिक देश बन गया। इसके विपरीत हिन्दुस्तान मे उद्योग व कृषि का जो सयोग था वह एकदम से मिटा

ताकत पर विजय थी। और जब इंगलैण्ड के पूँजीवादी उद्योगपतियों ने वहाँ की सामन्ती ताकत को पराजित करके उस पर हमेशा के लिए विजय प्राप्त करली तो कम्पनी के आश्रित हिन्दुस्तान के भू-भाग पर भी उनका कब्जा हो गया और उन्होंने अपने तरीकों से हिन्दुस्तान का शोषण किया जो कम्पनी के तरीकों के पूर्णतः विरोधी थे। हिन्दुस्तान के कारण इंगलैण्ड की बदली हुई हर परिस्थिति ने वापिस हिन्दुस्तान को प्रभावित किया है।

इस गत्यात्मक क्रम का सहज परिणाम यह हुआ कि कम्पनी के निरंकुश एकाधिपत्य को समाप्त होना पड़ा और उसकी जगह स्वच्छन्द व्यापार के पूँजीवाद ने लेली। इन नये पूँजीपतियों की 'नई जरूरतों को पूरा करने के लिए हिन्दुस्तान में एक ऐसा बाजार बनाना था जो कम्पनी के एकाधिकार के बदले सबके लिए खुला हो। यह जरूरी हो गया कि हिन्दुस्तान तमाम दुनिया को सूती माल भेजने के बदले अब खुद उसका ग्राहक बन जाय। इसका मतलब था हिन्दुस्तान की आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन हो। इसका यह मतलब भी था कि कम्पनी की व्यवस्था में एकदम उलट-फेर हो। हिन्दुस्तान के शोषण के तरीकों में परिवर्तन करना जरूरी था और वह परिवर्तन कम्पनी के एकाधिकार से फायदा उठाने वाले सेठों के जबरदस्त विरोध के बावजूद करना था।.. ऐसे तमाम लोग जो कम्पनी के एकाधिकार का विरोध करते थे, एक साथ मिल गये और उन्होंने कम्पनी के खिलाफ जोरों से धावा बोल दिया। इस समय कम्पनी के खिलाफ तमाम मसाला इकट्ठा किया गया। साम्राज्यवाद की कलई खोलने के लिए इतना पूर्ण, विस्तृत और अधिकारी साहित्य किसी भी युग में नहीं मिलता।†

कम्पनी के द्वारा हिन्दुस्तान से जो कपड़ा आता था उससे वहाँ के नये मिल मालिकों के माल की खपत नहीं हो पाती थी। कम्पनी से उसका यही विरोध था। सन् '१७२० में उन्हें इस बात में सफलता मिली कि वे हिन्दुस्तान का रेशमी कपड़ा और छपा हुआ कैलिको इंगलैण्ड में आना बिलकुल बन्द करदें। हिन्दुस्तान से जो भी सूती माल आता था उस पर बहुत भारी चुंगी लगा दी गई, तब कम्पनी हिन्दुस्तानी कपड़ों का व्यापार योरोप से करने लगी और अंग्रेजी बन्दरगाह सिर्फ माल बाँटने के अड्डे बन गये।†

लेकिन कम्पनी के प्रति नये मिल-मालिकों का विरोध यहीं पर आकर समाप्त नहीं हो गया, उनका विरोध जारी था। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में

उन्होंने कम्पनी पर बहुत हद तक सफलता प्राप्त करली। सन् १८१३ मे इगलैण्ड के ग्रौद्योगिक पूँजीपतियो के शोषण का नया अध्याय हिन्दुस्तान मे आरम्भ होता है। कम्पनी के सौदागर मुफ्त मे हिन्दुस्तान का माल बाहर बेचने की चेष्टा करते थे तो उसकी जगह इन नये उद्योगपतियो ने माल तैयार करने वाले भारतीय उद्योग धन्धो को ही नष्ट करने मे अपना भला समझा। 'उस समय तक हिन्दुस्तान का रेशमी और सूती माल विलायत मे अग्रेजी कपडो के मुकाबले में ५० फी सदी से लेकर ६० फी सदी तक कम कीमत पर बेचा जा सकता था। इसलिए यह जरूरी हो गया कि ७० और ८० फी सदी तक चुगी लगा कर अग्रेजी माल की रक्षा की जाय, यानि हिन्दुस्तान का माल बिकने ही न दिया जाय। अगर ऐसा न होता, अगर यह जबरदस्त नाकाबन्दी करने के लिए या चुगी न लगाई जाती तो पैसले और मैनचेस्टर की मिलें तभी बन्द हो जाती और उन्हे भाप की ताकत भी चालू न कर पाती। हिन्दुस्तान के उद्योग को बलिवेदी पर चढा कर ही ये मिलें चालू हो पाई।'†

और उस समय केवल मशीनो का जोर ही काफी नही था कि जिसके जरिये उत्पादित कपडो स भारत का बाजार भरा जा सके, तोपो और बदूको का जोर आवश्यक था। अग्रेजो ने सत्ता के बल पर तलवार की ताकत से अपनी मिलो के कपडे को हिन्दुस्तान मे भर दिया। पाशविक ताकत के जरिये यहाँ के उद्योग धन्धे मिटा दिये गये। उद्योग धन्धो के साथ लाखो मनुष्यो की जिदगी जुडी हुई थी, वह तबाह हो गई। एक साथ देश मे बेकारी और निर्धनता बढी। इगलैण्ड मे एक साथ लाखो मनुष्या को रोजगारी मिली। धन सचित होने लगा। अग्रेज व्यापारियो को स्वच्छन्द व्यापार की आजादी मिली और भारत के व्यापारियो की स्वतन्त्रता का कानून के जरिये अपहरण कर लिया गया। इगलैण्ड की औद्योगिक स्वतन्त्रता भारत की गुलामी पर पूर्णतया मुनस्सर थी। वहाँ की उत्पादन शक्ति के विकास का मूल विधान था—हिन्दुस्तान के उद्योग-धन्धो का खात्मा। इगलैण्ड की राजनीति का सीधा और प्रमुख आधार हिन्दुस्तान को बनना पडा। भारत इगलैण्ड की जिन्दगी का आधार बना तो इगलैण्ड ने भारत की मौत का सामान जुटाया।

अठारहवी सदी के बीच तक इगलैण्ड एक खेतिहर देश बना हुआ था और उन्नीसवी सदी के आरम्भ होने तक वह औद्योगिक देश बन गया। इसके विपरीत हिन्दुस्तान मे उद्योग व कृषि का जो सयोग था वह एकदम से मिटा

दिया गया। उसे खेतिहर देश के रूप मे बदल दिया गया। इतिहास के घाँटे को पीछे की ओर घुमना पड़ा। इगलैण्ड मे दस्तकारी की कब्र पर कल-कारखाने और चिमनियाँ उठ खड़ी हुई और हिन्दुस्तान के उद्योग-धधो की कब्र पर से कफन का टुकडा तक उड गया ताकि कभी पहिचाना ही नहीं जा सके कि यहाँ कोई कब्र भी थी। झूठा प्रचार किया गया कि हिन्दुस्तान शुरू से ही एक कृषि-प्रधान देश रहा है और आखिर उस प्रचार का परिणाम यह हुआ कि हम स्वय मान बैठे कि हिन्दुस्तान कभी औद्योगिक देश रहा ही नहीं। कि वह पहिले भी एक खेतिहर देश था और अब भी एक खेतिहर देश बना हुआ है। अग्रेजो ने शिक्षा और ज्ञान के बहाने हमेशा भारत की सस्कृति और उनके इतिहास को भुठलाने की चेष्टा की है। क्योंकि उन्हें किसी भी कीमत पर यहाँ राज्य करना था। हिन्दुस्तान का अधिक शोषण करना था। उनकी शिक्षा, उनके विज्ञान ने हमारे सस्कारो की स्वाभाविक क्रिया का सहज रूप धारण कर लिया। *उन्होंने अपनी कृत्रिम नैतिकता के साँचे मे हिन्दुस्तान* को ढालने की एक भी कसर नहीं उठा रखी। फिरगी शासन से हिन्दुस्तान के अर्थ व जन की तो बेशुमार हानि हुई ही है पर इसमे भी कही एक बड़ी क्षति उसको भुगतनी पडी है, वह है—यहाँ के निवासियो को 'अभारतीय' बनाने की निरतर चेष्टा। और इस चेष्टा मे उन्हें काफी हद तक सफलता भी मिली है। आज हम अपने देश ही म विदेशी बने हुए हैं, यह उन्ही की भलमन्साहत का सुपरिणाम है। एक हिन्दुस्तानी विद्यार्थी आज दिन भी जब अपने देश पर निबध लिखता है तो दृढ विश्वास के साथ, बिना किसी विलम्ब व अपवाद के, उसका पहिला वाक्य यही होता है—भारत एक कृषि प्रधान देश है। दूसरा वाक्य इस कथन की पुष्टि के लिए सच्चाई के आँकडे प्रस्तुत करता है—उसकी ७५ फी सदी आबादी कृषि पर निर्भर है। किसी मिथ्या बात को बार-बार प्रचारित करने से यदि वह 'सत्यम्' रूप धारण कर लेती हो तो ऐसे अनेको सत्यों को अग्रेजी प्रचार न प्रतिष्ठापित किया है। और इसमे बड़ी विडम्बना यह घटित हुई कि हम आज उन्ही प्रचारित मिथ्याओ को ही सच्चाई मान बैठे है।

सन् १८४० मे मॉण्टगोमरी मार्टिन ने फिरगी प्रचार की सच्चाई का स्पष्टीकरण किया था 'मै नही मानता कि हिन्दुस्तान कृषि-प्रधान देश है।

के दर्जे तक पहुँचा देना चाहते हैं वे उसे सभ्यता के पैमाने मे बहुत नीचे रखना चाहते हैं। मैं नही समझता कि हिंदुस्तान को इगलैण्ड का खेत बनाना है। यह एक औद्योगिक देश है। सैकडो साल से यहाँ तरह-तरह का माल तैयार होता रहा है। ईमानदारी से काम लेने पर कभी कोई देश उसके मुकाबले मे नही ठहर सका। . उसे खेतिहर देश बनाना उसके साथ अन्याय करना है।'

लेकिन हिन्दुस्तान को अपना 'खेत' बनाने का अन्याय केवल अन्याय की भावना तक ही सीमित नही था। उसके पीछे ब्रिटेन का 'जीवन-न्याय' जुडा हुआ था। यह अन्याय तो उनकी आर्थिक नीति की बाह्य व्यजना थी। और आखिर न्याय अन्याय की अनेको दुहाइयाँ देने के बावजूद भी हिन्दुस्तान को इगलैण्ड का खेत बनना था और बन कर रहा, जिससे वहाँ के उद्योगपतियो के कारखानो को हरदम सस्ते भाव पर कच्चा माल मिलता रहे और वहाँ का तैयार माल हिन्दुस्तान के बाजार मे मँहगा बिक सके। सन् १८४० मे पालिया-मेन्ट की जाँच कमेटी के सामने टामस बैंजर्स ने उनकी इस नीति का पूरा खुलासा इस प्रकार किया था—'हिन्दुस्तान का राज अपार है और वहाँ की आबादी इतना विलायती माल खरीद सकती है कि उसकी थाह नही। भारतीय व्यापार की समस्या इतनी-सी है कि यहाँ के लोग हमारे माल की कीमत अपनी धरती की पैदावार मे दे सकते हैं या नही।'

वीर सेनापति क्लाइव ने अपने तरीके से हिंदुस्तान को लूटा था और उसके बाद इन मेधावी पूँजीपतियो ने अपने तरीको से उसका शोषण किया। उद्योग धधो का पटरा बैठ जाने से लाखो आदमी मर गये। लाखो ने बेकार होकर खेती की शरण ली, जिससे खेती मे सकट पैदा हो गया। अकाल के कारण अधिक आदमियों को अपीडित होने के लिए मजबूर होना पडा। पुराना पेशा टूट गया। नया कुछ भी हाथ न लगा। बडी दर्दनाक स्थिति पैदा हो गई। सन् १८३४ में गवर्नर जनरल लार्ड बेंटिङ्क ने उस विभीषिका का वर्णन इस प्रकार किया था—'व्यापार के इतिहास मे तकलीफ की ऐसी दूसरी मिसाल पाना मुश्किल है। जुलाहो की हड्डियाँ हिंदुस्तान के मैदानो को सफेद किये हुए हैं।'

कमाने-खाने का एक मात्र सहारा खेत और बादल के भरोसे छोड देना पडा। खेती के लिए भूमि सीमित थी। बादल भी अक्सर धोखा दे जाया करते थे। हिंदुस्तान की जनता पर ऐसा भयकर सकट पहिले कभी भी नही

आया था। लोग अपनी मौत मरने लगे। जल्लाद की तलवार उनके लिए एकदम अदृश्य हो गई थी। करोड़ो लोग दम-दम मे प्राण छोड़ने लगे पर आततायी उनके सामने न था। लोगो का मारा जा रहा था पर मारने वाले का पता नही था। लूटा जा रहा था पर लुटेरा लापता था। किसका सामना करते ? कैसे सामना करते ? अंग्रेजो का उत्पात तैमूर, चगेजखां और नादिर-शाह से कही लाख गुना बढ़ कर था। उन्होने यहां की जिंदगी के आधार ही को काट डाला। और जिंदगी स्वयमेव मौत मे बदलती गई। लोग मौत के भय से शहर छोड़-छोड़ कर गाँवों की ओर भागने लगे। शहर खाली हो गये। गाँवो पर सकट आ गया। हिन्दुस्तान की जनता ने खेतो के सामने अपनी झोली फैला दी। किसान की आफत दिन-ब-दिन बढने लगी। उनका सब तरफ से शोषण होने लगा। महाजन, जमींदार और तीनो बारी बारी से उसे नोच-नोच कर खाने लगे। बेचारा किसान अपना पेट भरे या इन सबका पेट भरे ? अजीब समस्या थी। खेतो के टुकड़े हो गये। किसान का शोषण करने के लिए महाजन और जमीदार मे बँटवारा हो गया। सरकार ने मालगुजारी वसूल करने के सिवाय किसान से और कोई ताल्लुक नही रखा। उसने सिंचाई के साधनो की ओर से एकदम हाथ खीच लिया। सिवाय लूट के हिन्दुस्तान की जनता के साथ फिरंगी सरकार ने कोई दूसरा वास्ता नही रखा।

'हिन्दू और मुसलमान हुकूमतो ने देश और जातियो के हित के लिए जो तालाब, नहरें और सड़कें बनवाई थी उन्हे अंग्रेजो ने बरबाद हो जाने दिया। आबपाशी का इंतजाम न होने से अब सूखा पडने लगा है।† नहरो मे मिट्टी भरती गई पर अंग्रेजो ने इस बात की खोज-खबर नही ली।

'समूचे हिन्दुस्तान मे सार्वजनिक कार्यों की तरफ सरकार ने बेहद लापर-वाही बरती है। उसकी टेक है—न खुद करो और न औरो को करने दो। भले ही लोग अकाल से मर जाये, भले ही सड़कें और नहरें न होने से करोड़ों की आमदनी से हाथ धोना पडे—लेकिन तुम्हे कसम है, कुछ करना नही।‡

काफी अर्से तक अंग्रेज अपनी 'टेक' पर डटे रहे। उपरोक्त 'कसम' का पालन करते रहे। न उन्होने ही कुछ किया और न औरो को ही करने दिया। उनकी इस 'सजग-लापरवाही' के कारण हिन्दुस्तान की दस्तकारी चौपट हो गई। सिंचाई के साधन बर्बाद हो गये। कमाई के प्रचलित जरिये एक एक

करके हाथ से छूटने लग गये। लाखो कारीगर, जुलाहे, लुहार, बुनकर, कुम्हार, चमार आदि अपनी रोजी को गँवा कर गाँवो की ओर भाग छूटे। शहरो की आबादी बेइन्तहा कम होने लगी। गाँवो मे जमीन के लिए छीना-झपटी आरम्भ हो गई। भयकर मे भयकर खूनी युद्ध भी इससे अधिक और क्या कर सकता था? यह न किसी लुटेरे के वश की बात थी और न किसी आततायी के बूते की! उस 'असम्भव' को भी किस आसानी से अग्रेजो ने सम्भव कर दिखाया। उनकी वजह से लाखो मनुष्यों को जिन्दगी से हाथ धोना पडा, परन्तु उन्होने अपने हाथ पर खून का दाग न लगने दिया। ये गजनी और गौरी की तरह कच्चे-पक्के लुटेरे नही थे। तलवार और बारूद का जमाना लद चुका था। मौत के नये आविष्कारो ने बाजी मार ली थी। वे उन्ही नये आविष्कारो के जन्मदाता थे। और उन्होने उन्ही आविष्कारो का इस्तेमाल किया था, जिसका परिणाम यह हुआ कि ढाका की आबादी डेढ लाख से घट कर केवल ३० या ४० हजार तक रह गई। हिन्दुस्तान के तत्कालीन औद्योगिक शहरो की बर्बादी को ध्यान मे रखते हुए मौण्टगमरी मार्टिन ने कहा था "सूरत, ढाका, मुर्शिदाबाद वगैरह शहर, जहाँ हिन्दुस्तानी माल तैयार होता था, इस तरह तबाह हुए है कि जिसका जिक्र नही करत बनता। मेरी समझ मे ईमानदारी से व्यापार करने से उनकी यह दशा नही हुई। मै कहूँगा कि शहजोर ने अपनी ताकत से कमजोर को कुचल दिया है।' सन् १७५७ मे क्लाइव ने मुर्शिदाबाद शहर की प्रशसा करते हुए कहा था कि वह लदन से भी सुन्दर और घना बसा हुआ है। लन्दन से भी अधिक दौलत वाला खुशहाल शहर है।

एक समय था जब कि अपने लाभ के खातिर अग्रेजो ने बडी बेदर्दी के साथ हिन्दुस्तान की नहरो को मिट्टी से भरने दिया, सडको को नष्ट होने दिया, आबपाशी के साधनों को समाप्त होने दिया। लेकिन एक समय ऐसा भी आया जब मजबूर होकर अपने नग्न स्वार्थों की पूर्ति के लिए उन्हे रेलो की पटरियाँ बिछानी पडी। बिजली के खम्भो का जाल लगाना पडा। पक्की सडकें बनवानी पडी। नहर और बाँध बनवाने पडे। शिक्षा की तरफ ध्यान देना पडा। सुधार व शान्ति के लिए विवश होना पडा। उन्हे अपनी 'कसम' तोडनी पडी। अपनी 'टेक' छोडनी पडी। व भारत को पिछडी हुई हालत म रख कर ज्यादा लाभ नही उठा सकते थे। सन् १८५३ मे लार्ड डलहौजी ने अपने मसौद मे रेलों की आवश्यकताओ का राग अलापते हुए अपनी कुटिलता का

इस प्रकार बयान किया था :

'रेलें बनने से हिन्दुस्तान को जो व्यापारिक और सामाजिक लाभ होंगे वे मेरी समझ में अकथनीय हैं।'' विलायत में रुई की मांग बराबर बढ़ रही है। हिन्दुस्तान में रुई पैदा होती है। यहां से अच्छी किस्म की रुई मिल सकती है, मगर शर्त यह है कि बड़े बड़े मैदान पार कर के बन्दरगाहों में जहाजों तक माल ले जाने के लिए उपयुक्त साधन हों। दूसरे, व्यापार में जितनी ही सुविधाएँ मिलती हैं, उतनी ही विलायती चीजों की मांग हिन्दुस्तान के दूर-दूर कोनों में होने लगती है। दुनिया के इस हिस्से में हमें नया बाजार मिल रहा है और ऐसी हालत में मिल रहा है कि बड़े-बड़े दिमागदार भी यह अन्दाज नहीं लगा सकते कि आगे चल कर इससे कितना मुनाफा होगा और यहां कितना माल खपेगा।†

नादिरशाह, तैमूर, चंगेजखां और डलहौजी—इन सबमें कौन अधिक लुटेरा था, किसकी लूट अधिक खतरनाक थी ? बिना किसी संशय के कहा जा सकता है कि अंग्रेजों के पूर्व आक्रमणकारियों व सभी लुटेरों ने मिल कर भी इतनी हत्याएँ नहीं की हिन्दुस्तान का इतना धन-माल नहीं लूटा जितना क्लाइव, वारेन हेस्टिंग्ज, वैलेजली, लार्ड हेस्टिंग्ज और डलहौजी—इन पांचों लुटेरों ने अलग-अलग से हिन्दुस्तान को लूटा-खसोटा, उसे तबाह किया और आम हत्याएँ की हैं। इनका न किसी से मुकाबला किया जा सकता है और न किसी से इनकी मिसाल ही दी जा सकती है। ये अपनी तरह के एक ही खूनी थे, एक ही जालिम थे ! फिर भी, इतना सब होते हुए भी नादिर, तैमूर और चंगेजखां के पहिले—लुटेरे, क्रूर, नृशंस आदि शब्दों का प्रयोग होता है और इन फिरंगी लुटेरों के पहिले—लार्ड, गवर्नर, गवर्नर जनरल आदि के विशेषण प्रयोग में लाये जाते हैं। भारत में ब्रिटिश राज्य के निर्माताओं का रूप देकर इनके साहस, इनकी वीरता और इनकी सूझ-बूझ का बखान किया जाता है, जैसे स्वयं भारतवासियों के लिए भी, उनके अपने देश में, ब्रिटिश राज्य की स्थापना एक गौरव व प्रतिष्ठा की बात हो ! अंग्रेज जनता के लिए भले ही ये आदर्श हो सकते हैं क्योंकि उन्होंने भारत में उनके साम्राज्य की सीमा का लाल विस्तार किया था, परन्तु लाख चेष्टा करने पर भी इतिहास का भारतीय विद्यार्थी कैसे उन्हें आदर्श रूप में ग्रहण कर सकता है, यह बात आसानी से समझ में नहीं आती। भले ही आसानी से किसी की समझ में यह बात न आये तो न आये,

कुछ मुश्किल से समझ मे आयेगी, लेकिन अग्रेजो ने इस असम्भव को भी सहज और स्वाभाविक बना दिया। उन्होंने हिन्दुस्तान के दिमाग को ही अपने साँचे मे ढालने की अथक चेष्टाएँ की। उसके इतिहास ही को बर्बाद करने का प्रयास किया। अपने हिसाब से उन्होने नये इतिहासो का निर्माण करना आरम्भ कर दिया। अग्रेजो के द्वारा लिखे हुए भारतवर्ष के वे इतिहास ही हमारे लिए सबसे खतरनाक मार है, सबसे बडी क्षति है, जो न मालूम कब पूरी होगी ?

और यह सब हुआ—शिक्षा और ज्ञान के नाम पर ! भारतवर्ष के इतिहास की दुहाई देकर अग्रेजो ने दुतरफा प्रहार किया है। ब्रिटेन मे अग्रेज पाठक को इतिहास के बहाने यह बतलाने की चेष्टा की गई कि हिन्दुस्तान एक ऐसा देश है जो गुलामी के ही योग्य है। उसकी भलाई, सुख शान्ति व सुरक्षा के लिए ही वे वहाँ पर राज्य कर रहे हैं। जिस क्षण उन्होने हिन्दुस्तान को अपने भरोसे छोड दिया, वहाँ सब बर्बाद हो जायगा। लोग आपस मे कट-कट कर मर जायेंगे। अराजकता फैल जायेगी। लूट और तबाहियो का कहर मच जायेगा। वह ऐसा ही जाहिल और बर्बर देश है। उन्ही की वजह से वहाँ अमन चैन है। वे हिन्दुस्तान के भले के खातिर ही हिन्दुस्तान को छोडना नही चाहते। मजबूरी है कि उन्हे वहाँ राज्य करना पड रहा है। वहाँ की आम जनता उन्हे वहाँ शासन करने के लिए अनुनय-प्रार्थना करती है। और दूसरी तरफ हिन्दुस्तान के विद्यार्थियो को इतिहास के नाम पर वे किस्से-कहानियाँ और चुटकले पेश किये गए जिनमे अग्रेजो की योग्यता, उनकी बहादुरी उनकी कुशलता का बखान हो। उनकी श्रेष्ठता का प्रदर्शन हो। उनके रौब-दाब का चित्रण हो। परिक्षाओ मे पास होने के लिए यह सब जानकारी आवश्यक बन गई। नौकरी के लिए इम्तिहान मे पास होना जरूरी हो गया। और इतिहास के अध्यापको को नौकरी के लिए यह सब-कुछ पढाना जरूरी हो गया। इतिहास का जानना और पढाना हिन्दुस्तान के शिक्षित वर्ग की जीवन-आवश्यकता बन गई। आगा-पीछा भूल कर लाखो विद्यार्थियो को अपने व्यक्तिगत स्वार्थो की पूर्ति के लिए तोते की तरह इतिहास के इन पाठो को कण्ठस्थ करना पडा। भारतीय अध्यापक तोते की तरह पढाने लगा। भारतीय विद्यार्थी तोते की तरह रटने लगा। दोनो के लिए नौकरी की समस्या ही ने सर्वोपरि समस्या का रूप धारण कर लिया। उन्हे न भारतवर्ष से मतलब रहा और न भारतवर्ष के इतिहास से ! अग्रेजो की कद्रदानी का प्रमाण-पत्र हासिल करने के लिए भारतीय

इतिहासकारों ने तो सत्य का गला ही घोंट डाला। वे अग्रेज इतिहासकारों से भी आगे निकल भागे, क्योंकि उन्हें सरकार से 'वफादारी' और 'बौद्धिक-प्रतिभा' की सनद लेनी थी। तथाकथित 'विद्वत्ता' व 'डाक्टरी' की उपाधि ग्रहण करनी थी। डाक्टर-मार्का इन भारतीय इतिहासकारों ने अपनी स्वामि-भक्ति का तगमा लेने के लिए अग्रेजी शासकों का जी भर कर सम्मान किया। उनके समाज-सुधारों, उनकी शांतिप्रियता और न्यायपरायणता का गुणगान किया। विदेशी शोषकों का विरोध करने वाले सच्चे देश प्रेमियों को भारतीय इतिहासकारों के द्वारा ही सर्वाधिक भर्त्सना का उपहार मिला है। देश की स्वाधीनता के लिए जूझ मरने वाले शहीदों को क्रूर, हत्यारा, पागल और डाकू आदि की सज्ञाओं से विभूषित किया गया। लन्दन के सेंट पाल गिर्जे मे क्लाइव की समाधि को अग्रेजो के द्वारा 'साम्राज्य-निर्माता शहीद' के रूप मे दिए गए सम्मान का रहस्य तो समझ मे आ सकता है, पर इतिहास का भारतीय अध्यापक जब अपने विद्यार्थी के सामने क्लाइव, वैलेजली और डलहौजी का आदर्श उपस्थित करना चाहता है, उनकी साम्राज्य-विस्तार नीति का नि सकोच भाव से जिक्र करता है, उनके कौशल की सराहना करता है तो उस अभागे शिक्षक की 'प्राण-घाती स्मरण-शक्ति' पर न रोष करते बनता है, न उसकी नासमझी पर दया ही आती है। आज दिन भी भारत के दुर्भाग्य को न उन इतिहासों से छुटकारा मिला है और न उन इतिहासकारों से। पाठ्यक्रम मे आज दिन भी वह जहरीला प्रचार उसी रूप मे चल रहा है। यूनिवर्सिटियो से हजारो स्नातक प्रति वर्ष इस 'अज्ञानभरी शिक्षा' का प्रमाणपत्र पाकर गौरव का अनुभव करते हैं। अग्रेजो का भूत उनके सिर पर चढ कर बोलता है—यह है भारत के शिक्षित वर्ग का चरित्र!

और दूसरी तरफ गाँवो का अनपढ, अशिक्षित वर्ग अपनी नादानी के कारण अग्रेजो की जादूभरी करामातो पर ही मुग्ध है। हवाई जहाज, रेल, तार, मोटर, डाक, अजन आदि वैज्ञानिक साधनो मे गोरो का बुद्धि-कौशल देख कर वह आश्चर्यचकित-सा रह जाता है। श्रद्धा से विगलित होकर वह उनके हुनर का हार्दिक बखान करता है—अग्रेज गोरा लोग थारो हुनर भारी रे—यह है भारत के अशिक्षित वर्ग का चरित्र!

भारत का अशिक्षित वर्ग अपने अज्ञान के कारण अग्रेजो के हुनर पर मुग्ध है तो भारत का शिक्षित वर्ग अपने ज्ञान के कारण उनका गुलाम बना हुआ है।

शिक्षा के नाम पर उसने गलत और खोटी मान्यताओं को अपनी स्मरण-शक्ति मे भर लिया है। जो अशिक्षित है वह कुछ जानता नही, और जो शिक्षित है वह गलत जानकारियो मे ही खोया हुआ है! इस विडम्बना का न जाने कब और कैसे अन्त होगा? सयोग से राजस्थान का इतिहास लिखने की जिम्मेवारी जिन 'योग्य विद्वान' व्यक्तियो के हाथ लगी, उन्होने तो इतिहास के दुर्भाग्य को चरम सीमा तक ही पहुँचा दिया। तारीख और घटनाओं के ऊपरी वर्णन मे उन्होने इतिहास के सूत को उलझा कर ही अपना दायित्व समाप्त कर दिया। सत्ता के प्रति स्वामि-भक्ति के स्वाभाविक कर्त्तव्य ने उनके सामाजिक दायित्व को पगु और निश्चेष्ट बना डाला था। और दुर्भाग्य से आज इन्ही इतिहासकारो को सरकारी मान्यता और सामाजिक प्रतिष्ठा का सबसे अधिक श्रेय प्राप्त है।

भारतवर्ष मे अंग्रेजी शासन के सभी पाठ्य इतिहास—इतिहासकारो के इसी 'स्वाभाविक कर्त्तव्य' की अन्तर्प्रेरणा से ही सम्पन्न हुए हैं। अपनी अपनी शैली और अपने अपने तरीको से उन्होने अपने इतिहासो मे क्लाइव की 'चतुराई' का दिग्दर्शन किया है, अंग्रजो के सितारे' को चमकाया है। उनके बढ़ते हुए 'प्रभाव' को दर्शाया हैं, उन्हे 'शान्ति व सुरक्षा' का स्थापक बतलाया है, 'न्याय का समर्थक' घोषित किया है। अंग्रेज सरकार को उन्होने 'निष्पक्ष' स्वार्थ-रहित नीति का पोषक बतलाया है। सन् सत्तावन के गदर को इन्होने 'एक भयकर षडयन्त्र' के रूप मे पेश किया है जो उनकी दृष्टि से केवल 'अंग्रेजी राज्य का नाश करने के लिए रचा गया था।' विक्टोरिया को इन्होने 'दयालु रानी' के रूप मे चित्रित किया है! तो फिर उस दयालु और शातिप्रिय सरकार के राम-राज्य मे भारत की दिन-ब दिन बढती दरिद्रता और उसकी भयकर तबाही का आखिर कारण क्या था? उसका सामाजिक आधार क्या था? हिन्दुस्तान की धरती निहायत उपजाऊ है और जनता यहाँ की बेहद गरीब है। इस 'पहेली' की जिम्मेवारी आखिर किस पर आकर ठहरती है? इन मूलभूत प्रश्नो का सही जवाब इतिहास की इन पाठ्य-पुस्तको मे कही भी खोजे नही मिलता। या ता इन ख्यातिप्राप्त इतिहासकारो ने इस समस्या को ऐतिहासिक समस्या के रूप म स्वीकार करना जरूरी ही नही समझा या उन्होने जान कर सब तरफ से बचने की चतुराई करते हुए, अपने स्वार्थों को पूरा करने के लिए उसे टालने की सतर्कता बरती है। इतिहास को यदि अपना सामाजिक उत्तरदायित्व निभाना है तो उसे स्पष्टतया वैज्ञानिक तरीके से बतलाना होगा

कि अंग्रेजी शासन-काल में हिन्दुस्तान की तबाही के लिए न जमीन का कोई दोष था और न प्रकृति का कोई कोप ! न उसके लिए पूर्व-जन्मों का फल जिम्मेवार था और न भाग्य की परवशता। न खोटे ग्रहों के मत्थे ही उसका दोष मँढा जा सकता है। उसकी गरीबी अशिक्षा के कारण नहीं थी, बल्कि उसकी अशिक्षा गरीबी ही का परिणाम थी। और गरीबी की विभीषिका केवल अंग्रेजी सुव्यवस्था की वजह से थी, कोई उसके बावजूद नहीं। वह दर्दनाक संकट केवल और केवल साम्राज्यवादी शोषण का सहज व सीधा नतीजा था। इतिहासकार को बताना होगा कि किस तरह 'अंग्रेज नाम का शैतान हमारे देश पर चढ आया था' और किस तरह 'उसने देश के जिस्म की सारी चेतना को अपने खूनी अधरों से सोखा ?' यह जानकारी बहुत-कुछ लिखी जाने के बाद भी बहुत अधिक शेष है। वे 'अंग्रेज, जिनकी जन्म-भूमि विलायत है, उन्होंने किस तरह कलकत्ता और कानपुर में आकर अपना जाल फैलाना शुरू किया और किस तरह धीरे धीरे उनका जाल बम्बई, मद्रास व ठेठ दक्षिण तक फैलता गया'। इस मुतल्लिक बहुत-कुछ सच्चाई प्रकाशित होने पर भी बहुत अधिक वास्तविकता अब भी शेष है। किस तरह इस 'गोरी देह वाले फिरंगी ने अपना फैलाव किया' उसका यथार्थ इतिहास अब भी लिखा जाना बाकी है।

हे औ काळी टोपी री फिरंगी फैलाव कीधो औ।

इस काली टोपी वाले ने किस कुटिलता से यहाँ अपना पाशविक राज्य फैलाया—बहुत कुछ गुप्त बातें प्रकाशित होने पर भी हिन्दुस्तान के कोने-कोने से हजारों छिपे हुए तथ्य, लाखों गुप्त मंत्रणाएँ, करोड़ों जालसाजियाँ अब भी प्रकाश में आनी बाकी हैं।

फिरंग प्रळै जळ फैलियौ, तज दूहूं राहा टेक।

हिन्दुस्तान पर फिरंगियों के इस महाप्रलय की शुरुआत कब हुई, कैसे हुई, क्यों हुई और उस प्रलय की अथाह जल-राशि कहाँ तक फैली, वापिस कैसे सिमटी, इस बाबत भी कुछ कम सामग्री प्रकाशित नहीं हुई, परन्तु अप्रकाशित मसाला अब भी बहुत अधिक संख्या में छिपा पड़ा है, सो न जाने कब हिन्दुस्तान के कोने-कोने से प्रकाश में आयेगा। कहने को तो कई ईमानदार और निडर व्यक्तियों द्वारा अंग्रेजी साम्राज्य-विरोधी सामग्री प्रकाश में आई है, लेकिन उसका वांछित प्रचार नहीं हुआ। कुछ इने-गिने विद्या-प्रेमियों की

जानकारी तक ही वह प्रचार सीमित रह गया। इसके विपरीत जन-साधारण के सस्कारो को सँवारने वाली सार्वजनिक शिक्षा को तो आज दिन भी उन्ही पाठ्य पुस्तको का ही सहारा है। आम भावना व जन-रुचि तो उन्ही तथा-कथित इतिहासो पर सौ प्रतिशत रूप से निर्भर करती है।

और हिन्दुस्तान की आजादी का सही इतिहास तब तक अपना वास्तविक रूप ग्रहण नही कर सकता जब तक कि वाछित सामग्री अपने मूल मे प्रकाशित न हो जाय। अक्सर देखने मे आया है कि हर नई ऐतिहासिक सामग्री ने अपनी सच्चाई के बल पर इतिहास की पूर्व-मान्यताओ को एकदम से पलटा है। पद्रह अगस्त के बाद ही वह मौका आया है जब कि यथेष्ट सामग्री को इस दृष्टिकोण से इकट्ठा किया जा सकता है। सन सेंतालीस के पहिले तो यह मौका था ही नही।

यह ऐतिहासिक सामग्री मिलेगी सरकारी फाइलो मे, आरकाइव्ज विभाग के अगणित कागजो मे, लोगो की जबान पर, अखबारो के दफ्तरो मे, जेलो की फाइलो मे, अहदनामे व खलीतो मे, सधि-पत्रो व अग्रेज अधिकारियो की चिट्ठी-पत्रियो मे, रियासतो के रेकार्ड्स मे, ब्रिटिश पार्लमिट की रिपोर्टो मे, तत्कालीन अग्रेजी साहित्य मे, वहाँ के भाषणो मे, भारतवर्ष के तत्कालीन साहित्य मे, शिलालेखो मे, लोक-जीवन की आम चर्चाओ मे—मतलब कि ज्ञात-अज्ञात रूप से भारत मे अग्रेजी शासन को लेकर जब कभी भी, जिस किसी का भी सपर्क रहा हो, उसका मूल रूप प्रकट होने पर ही ब्रिटिश काल का इतिहास तैयार हो सकता है।

यह न एक व्यक्ति के बूते की बात है और न चन्द व्यक्तियो के खोज का विषय। यह निश्चित रूप से एक सामूहिक कार्य है जो सम्पूर्ण होने के लिए अपना समय चाहता है।

अग्रेजी-साम्राज्य-विरोधी प्रस्तुत कविताओ की बस यही सार्थक मान्यता है कि राजस्थान के क्षेत्र से इनके द्वारा ऐतिहासिक सामग्री मे आशिक वृद्धि हुई है। इनका मूल रूप मे प्रकाशित होना ही इनकी एकमात्र उपादेयता है। और न इस विषय से सम्बन्धित सामग्री केवल इन कविताओ तक ही सीमित है। राजस्थान म न जाने कितने ही अज्ञात स्थानो से इस तरह की सामग्री प्राप्त हो सकती है। अधिकाश सामग्री शायद लिपिबद्ध भी न हो पाई होगी, अनेको शिलालेखो को अब तक पढा भी न गया होगा, विभिन्न परिवारो मे

पाण्डुलिपियों को दीमक चाट रही होगी। इस विषय से सम्बन्धित सामग्री को जितना जल्दी हो सके सतर्कता से प्राप्त करने का प्रयास किया जाना चाहिए। इस कार्य के लिए राजस्थान सरकार को निर्विलम्ब कदम उठाने की आवश्यकता है। क्योंकि अलग अलग व्यक्तियों को यह काम आर्थिक रूप से बहुत भारी पड जाता है। यह केवल सरकार के सामर्थ्य की ही बात है और उसका यह कर्त्तव्य भी है। राजस्थान की शोध-सस्थाओं को भी अपने वश रहते इस तरफ अधिक लगन के साथ कार्य मे जुट पडना चाहिए।

यहाँ प्रसगवश यह समझ लेना जरूरी है कि ऐतिहासिक सामग्री और इतिहास दोनों एक बात नही है। किसी भी युग की ऐतिहासिक सामग्री उस युग का इतिहास कदापि नहीं बन सकती। परन्तु इतिहास को अपनी चरितार्थता प्रकट करने के लिए यथेष्ट ऐतिहासिक सामग्री की अपेक्षा रहती है, इसमे कोई सदेह नही। एक ओर जहाँ ऐतिहासिक सामग्री के अभाव मे इतिहास विज्ञान अपनी पूर्णता की ओर अग्रसर नही हो सकता, तो दूसरी ओर इतिहास के वैज्ञानिक दृष्टिकोण बिना वह सामग्री कभी-कभी समाज के लिए घातक भी सिद्ध हो जाती है। किसी भी ऐतिहासिक सामग्री को सामाजिक विकास के सूत्र मे पिरोने के लिए यह 'समझ' आवश्यक है कि प्रगति और प्रतिक्रिया का निर्णय पूर्णतया देश, काल व परिस्थितियो के अनुसार होता है।

प्रकृति की तरह मानव-समाज भी सतत् गतिशील है। पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया व आतरिक असगतियों के फलस्वरूप प्रकृति की तरह समाज का भी निरतर विकास होता है। प्रकृति के बाह्य रूपो की तरह सामाजिक घटनाओ मे भी परस्पर अविच्छिन्न सम्बन्ध है। उनम आतरिक निभरता व पारस्परिक सम्बद्धता है। निश्चित है कि कोई भी घटना अकस्मात घटित नही होती। प्रकृति की भाँति वह भी अपने विकासजन्य नियम से अनुशासित होती है। इसलिए इतिहास आकस्मिक घटनाओ का सकलन न हो कर एक व्यवस्थित विज्ञान है, जो अपने गतिशील विकास के नियमो पर पूर्णतया निर्भर करता है।

इतिहास विज्ञान का यह सुव्यवस्थित अध्ययन केवल अतीत की जानकारी ही प्रस्तुत नही करता बल्कि भविष्य के प्रति मार्ग निर्देशन भी करता है। इस कारण इतिहास को जानने का मतलब है—नये इतिहास का निर्माण।

भविष्य के सजग निर्माण के लिए अतीत की जानकारी समाज की एक जीवन्त आवश्यकता बन जाती है। अतीत की परिधि सम्राटो व शासको की कार्य-विधियो तक ही परिसीमित नही है। इतिहास-विज्ञान समूचे समाज के अतीत का विकास प्रेषित करता है। इसलिए जिन इतिहासकारो ने राजे महाराजाओ, मध्य-युगीन योद्धाओ, गवर्नर जनरल व वायसरायो, विजेताओ और सत्ताधारी शासको के कार्य-व्यापारो तक ही इतिहास को मर्यादित कर, अपने वैयक्तिक कर्त्तव्य की इति समझ ली है, उनकी कृतियो को किसी और अच्छे नाम से सम्बोधित किया जा सकता है, पर उन्हें इतिहास की सज्ञा किसी भी रियायत पर नही दी जा सकती।

राजस्थान का इतिहास लिखने मे यही सबसे बडी भूल हुई कि ऐतिहासिक सामग्री को इतिहास का पूरक मान लिया गया है। और वह सामग्री सीमित थी केवल राजा महाराजा और सामन्तो की क्रिया-प्रतिक्रियाओ के घेरे तक ही। क्योकि केवल इन्हे ही वह सुविधा या वे साधन प्राप्त थे जो इस तरह की सामग्री को लिपिबद्ध करवा सकते थे। उस प्रचार का अधिकाश भाग हमे मिलता है चारणो की कविताओ मे, ख्यातो मे, वार्त्ताओ मे, भाटो की वहियो तथा अन्य राजकीय सामग्री के जरिये, जो सब मिला कर भी समूचे समाज की गतिविधियो का एक अश मात्र था। राज्याश्रित प्रचारको की जो मर्यादा थी, वही इतिहासकारो का साध्य बन गया। और उस निर्भरता के बाद स्वय इतिहासकार भी परोक्ष या अपरोक्ष रूप से राजा का ही आश्रित था। उसकी स्वतत्रता आर्थिक परिस्थितिया से नियन्त्रित होती थी। प्रश्न यह नही है कि क्या सीधे रूप मे उन दरबारी प्रचारको की स्वतत्रता पर कोई अकुश रहता था या नही, बल्कि वास्तविकता यह है कि उनकी चेतना का अतिरिक्त विकास ही उन परिस्थितियो मे सभव नही था।

'गोरा हट जा' में सग्रहीत कविताएँ, अपने आप मे मुख्य न हो कर, उनमे विनिहित ऐतिहासिक तत्व का महत्व ही प्रधान है। परोक्ष अपरोक्ष रूप से अग्रेजो से सबधित होने के कारण ही उन्हे सग्रह मे स्थान मिला है। इनके काव्य-पक्ष का श्रेय बस इतना ही है कि उसके माध्यम से तत्व-भावना को एक सामाजिक बोधगम्य यथार्थ रूप प्राप्त हो सका। लेकिन समाज-सुलभ अभि-व्यक्ति के पश्चात् घटना-सत्य और माध्यम दोनो परस्पर आत्मसात होकर एक रूप हो गये, जिससे ऐतिहासिक तथ्य का अपना निजी स्वरूप, शैली-विशेष

के साथ जुड़ने से काफी बदल गया है। शैली तथा कविताओं के रूप-तत्व से विच्छिन्न करने पर ही विषय-वस्तु की अपनी वास्तविकता प्रकट हो सकती है। तत्कालीन शैली की महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों को ठीक समझने पर ही 'रूप' से 'विषय' की स्वतन्त्र सत्ता का आभास मिल सकेगा। और तब उसके बाद इन कविताओं में अंतर्निहित ऐतिहासिक तथ्य को अपना स्वतन्त्र परिचय दे सकने का सामर्थ्य प्राप्त होगा।

कवि की समझ या चेतना केवल उसके अपने व्यक्तित्व तक ही सीमित न होकर एक सामाजिक यथार्थ की अचेतन अभिव्यक्ति होती है। समाज का जैसा प्रचलित आचार होता है उसी से मनुष्य के विचार निश्चित होते हैं। मनुष्य के जैसे विचार होते हैं, वैसे ही उसकी भावना या संवेदन शक्ति होती है। विचार, कल्पना, भावना या संवेदन-शक्ति परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन को भौतिक परिस्थितियों का प्रतिबिंब मानने पर भी वह स्वयं में निष्क्रिय नहीं होता। वह भौतिक सत्ता को प्रभावित करता है। एक बार अस्तित्व में आने पर या मनुष्य के हृदय में घर कर लेने पर उसकी भावनाएँ तथा मान्यताएँ अत्यधिक जीवन्त शक्ति का रूप धारण कर लेती हैं।

सामन्तवादी व्यवस्था में पेशों के अनुसार जातियों का निर्माण होता है। तत्पश्चात् वे जातियाँ उन्हीं परम्परागत पेशों को हमेशा के लिए अपना लेती है। पेशों की श्रेष्ठता व हीनता के मापदंड से ही जातियों की श्रेष्ठता निर्धारित होती है। सम्पत्ति के अधिकारों की रक्षा के निमित्त वैवाहिक सम्बन्ध, पारिवारिक विधि कम आदि जातियों के अपने दायरे में ही केन्द्रित हो जाते हैं। पेशा और जाति एकमेल होकर परस्पर पर्यायवाची हो जाते हैं।

कविता और अन्य कलाएँ भी जातियों में बँट जाती हैं। पेशों के बहाने वे वंशानुगत चरित्र का रूप धारण कर लेती हैं। कविता जैसी स्वतःस्फूर्त सामूहिक कला वश और जातिगत पेशों का कृत्रिम रूप धारण कर लेती है। वर्ग विभाजित समाज में कविता, संगीत और नृत्य की प्रारम्भिक एकता नष्ट हो जाती है।

राजस्थान में सामन्ती-व्यवस्था के अंतर्गत कविता का जातीय पेशा चारणों का रहा। कविता उनके जीविकोपार्जन का साधन बन गई। एक बात और—चारणों का पेशा मुख्य रूप से कविता करना नहीं, बल्कि कविता के माध्यम

रो शासक-वर्ग का यश गान करना था। क्योंकि भाषा का लिपिबद्ध रूप प्रच लित होने पर भी जन साधारण के लिए छापे की कला के अभाव मे तब पुस्तकों का प्रकाशन सभव नही था। घरेलू काम-काज, राजकीय हिसाब-किताब, शासन-व्यवस्था, तथा आपसी चिट्ठी-पत्री के अलावा गद्य की विशेष सार्वजनिक उपयोगिता नही थी।

सामन्ती अवस्था तक आते आते कविता की सामूहिक आवश्यकता भले ही केन्द्रित हो गई हो, उसकी विषय-वस्तु मे सामूहिक जीवन की उत्प्रेरणा भले ही निःशेष हो गई हो, फिर भी सामाजिक प्रचार व सुविधा के लिए छापे की मशीन के आविष्कृत होने तक कविता ने अभिव्यक्ति के माध्यम का पूरा उत्तर-दायित्व निभाया है। सामाजिक परिस्थितियों के कारण चारणों को अपने लक्ष्य की खातिर कविता का सहारा लेना पडा। उनकी इस परिस्थितिजन्य विवशता ने आखिर जातीय विशेषता का रूप धारण कर लिया। परम्परा से चले आने के कारण वह उनके व्यवहार मे घुलमिल-सी गई। अभ्यास की निरन्तरता समय के साथ स्वभाव बन जाती है। परम्परा विधान बन जाती है।

सामन्ती-व्यवस्था के टूटने पर पेशा के आधार पर बनी जातियों का सघटन भी विच्छिन्न हो जाता है। धीरे धीरे जातियाँ अपना पेशा छोडती रहती है। दूसरे काम धन्धो को अपनाती रहती हैं। क्योंकि निर्धारित पेशा के साथ जातियो का कोई रागात्मक सम्बन्ध तो होता नही, बल्कि एक आर्थिक सम-झौता होता है।

मनुष्य बाह्य जगत को अपनी आवश्यकताओ के अनुसार परिवर्तित करता है और इस परिवर्तन-क्रम मे वह स्वय को बदलने का सामान भी अनजाने जुटा लेता है। प्रकृति को अपने अनुरूप निर्मित करने के इस अविरल प्रवाह मे मनुष्य का रूप भी विकसित होता रहता है। विकास का यह क्रम परिपूर्ण होता है—भाषा के माध्यम से। इसलिए भाषा मनुष्य जीवन की एक भौतिक आवश्यकता है, मानसिक खिलवाड नही। भाषा के माध्यम से ही वह बाह्य जगत के साथ सपर्क स्थापित करता है। मनुष्य, प्रकृति और समाज के इस विकास क्रम मे भाषा का स्वरूप भी कभी एक सा नही रहता। वह निरन्तर विकसित और उन्नत होता रहता है। इसलिए जो भाषा मनुष्य के विकास की भौतिक आवश्यकताओ मे अपना यथेष्ट योग प्रदान नही करती, वह निर्जीव और जड हो जाती है। मनुष्य समाज अपने विकास-पडावो पर उसे छोड कर

आगे बढ़ता रहता है। भाषा की यह उपादेयता सपन्न होनी है—कला, विज्ञान और सस्कृति के माध्यम से। कला और विज्ञान के रूप मे मनुष्य के सास्कृतिक विकास व परिवर्तन का भी यही मूलभूत सामाजिक आधार है।

प्रकृति और मनुष्य के पारस्परिक सघर्ष के बीच भाषा का जन्म होता है। समूचे समाज की भौतिक आवश्यकताओं के कारण ही वह उद्भूत होती है। इसलिए भाषा एक सामाजिक दस्तावेज़ है—वैयक्तिक सुविधा नही।

वर्ग-विभाजित समाज मे जब कविता अपनी सामूहिक जरूरतो से उत्पन्न न होकर शासक-वर्ग की रजन-सामग्री मे नि शेष हो जाती है, तब उसमे प्रयुक्त होने वाली भाषा भी पारस्परिक सम्बन्धो को स्थापित करने के लिए समूचे समाज का एक आवश्यक साधन न रह कर चद व्यक्तियो की सुविधा और सहूलियत की वस्तु हो जाती है। उसका विकास रुक जाता है और रह जाती है—केवल परम्परा का अन्ध अनुकरण मात्र।

कविता स्वय एक ऐसी कला है—जो जाति, वश या राष्ट्र के सकीर्ण दायरे मे बाँधी नही जा सकती। इसलिए पेशे के रूप मे अभ्यास की कारीगरी का रूप धारण करने के निमित्त उसका अपना स्वभावगत चरित्र स्वयमेव नष्ट हो जाता है। वह रूढियो और नियमो मे जकड जाती है। स्वत स्फूर्त न होकर एक अभ्यास की वस्तु बन जाती है। कला न रह कर एक कारीगरी रह जाती है। और उसकी भाषा जन साधारण की व्यावहारिक आवश्यकता से दूर हटती हुई भाषा के पिछले पडावो मे ही सिमट रह जाती है। शैली, कल्पनाएँ, उपमाएँ, वर्णन व कथानक आदि सब रूढ हो जाते हैं। इस तरह की कविता लिखना और समझना जन-साधारण के वश की बात नही रहती।

क्यो ?

स्पष्ट और सीधा-सा उत्तर है कि इसके बिना कविता किसी भी जाति-विशेष का पेशा नही बन सकती। अभ्यास और परम्परा का अन्ध अनुकरण किसी भी जातीय पेशे के लिए सर्वथा अनिवार्य है। इन पेशेवर कविताओ की रचना बाह्य प्ररणा से उद्भासित न होकर व्यक्ति के अपने कौशल पर ही पूर्णतया निर्भर करती है। पेशे की प्रारम्भिक विवशता समय के दौरान मे रूढ होकर शास्त्र की वैधानिक ओट ग्रहण कर लेती है। मजबूरी पाडित्य के थोथे आडम्बरो म परिणत हो जाती है। फिर नियमो और रूढियो के दायरे से हटना हीन कला का द्योतक समझा जाने लगता है। जो एक समय की

लाचारी थी, वही समय पाकर कविता की खरी कसौटी बन जाती है। शास्त्रो का उलघन करने वाले को कवियो की श्रेणी से बहिष्कृत समझा जाने लगता है।

सभी देशो की सामन्तकालीन कविता का कुछेक देश, काल व परिस्थिति-जन्य विभिन्नताओं के अलावा विशेषतया यही तात्विक चरित्र होता है। मध्य-युगीन सस्कृत, प्राकृत व अपभ्र श साहित्य भी सामन्ती दौर की इन प्रवृत्तियो से भरपूर प्रभावित है। हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य ने तो रूढियो की पराकाष्ठा तक पहुँच कर ही दम तोडा।

सामन्त-काल मे शासक वर्ग के लिए युद्ध कोई कला या मनोरजन नही—एक जबरदस्त आवश्यकता होती है। आपसी लडाई, ग्रह-कलह और बाहरी हमले की सभावना हरदम बनी रहती है। शारीरिक ताकत और युद्ध-कौशल जीने के लिए अनिवार्य शर्तें बन जाती हैं। सर्वोच्च सत्ता के प्रतीक राजा को वीरता के आदर्श रूप मे प्रपित किया जाता है और उसके लिए मर मिटने को जिन्दगी का सबसे बडा सौभाग्य! स्वामि-भक्ति जीवन की सर्वोपरि सार्थकता का गौरव प्राप्त कर लेती है। समय के दौरान मे युद्ध व वीरता की आवश्य-कता भी रूढ हो जाती है। राजकीय प्रचारको के जरिये उनका वर्ग-स्वार्थ जनसाधारण की चेतना का अश बन जाता है। कार्य-कारण-सम्बन्ध से दूर हटती हुई युद्ध और वीरता की अनिवार्यता अपने ही चरम रूप मे सिमट जाती है। वर्णन उसका सधी सधाई परम्परागत रूढियो मे मर्यादित हो जाता है। आलोच्य-सग्रह की अधिकाश कविताओं मे युद्ध-स्थल का वर्णन भी बनी-बनाई लीक के जरिये ही हुआ है।

'सेनाओ तथा पलटनो का समुद्र उमड पडना, मतवाले हाथियो का उन्मत्त होना, तलवारो के झटकों से टूट कर उनकी सू डो का चटाक-चटाक गिर पडना, तोपो, बन्दूको, घोड़ा के खुरतालो की आवाज से आकाश का गूँज उठना, झडो की मालाओ का फरफराना, तलवारो के प्रहारो से आग की चिनगारियाँ प्रज्वलित होना, काले नागो की तरह योद्धाओ का फुफकारना, भालो की नोको व तलवारा के प्रहारो से शरीर का छलनी-छलनी हो जाना, देह मे लहू के फव्वारे छूटना, फेफडो के टुकडे-टुकडे हो जाना, खून से सनी हुई आँतडियो का पैरो तक लटक आना, खून की नदियाँ बह जाना, बादलो की गडगडाहट के समान तोपो का गर्जन-तर्जन होना, कँवारी सेना के साथ

युद्ध-वेलि करना, तलवारों से वज्राग्नि का बरसना; सिंधु राग से समुद्र का लहरा उठना—आदि।

माना कि युद्ध में सब कुछ यही हुआ करता है। लेकिन इस तरह के वर्णनों में ही युद्ध को बार-बार समाहित करते रहने से उसकी अनुभूति में सजीवता नहीं रहती। युद्ध एक बात है और युद्ध का वर्णन करना दूसरी बात। युद्ध से वर्णन तक पहुँचा जा सकता है—वर्णन से युद्ध तक नहीं। परिणाम कारण से उद्भूत होता है, लेकिन परिणाम से कारण को उत्पन्न नहीं किया जा सकता। कुछ समय के बाद, वर्णन की यह रूढ़ि हृदय में किसी भी प्रकार की प्रतिक्रिया उद्वेलित करने में सर्वथा निष्क्रिय हो जाती है। उसके शब्दों में निहित एक समय की प्रारम्भिक अनुभूति शुष्क और निष्प्राण हो जाती है। शब्दों की सक्रिय चेतना को लकवा मार जाता है।

युद्ध की तरह युद्ध के परिणामों का वर्णन भी कवियों की अपनी अनुभूति के हाथों नहीं बल्कि परम्परागत रूढ़ियों की तूलिका से ही चित्रित हुआ है।

'युद्ध-भूमि की गर्द से सूर्य का ढँक जाना या उसका प्रकाश चंद्रमा के समान शीतल पड़ जाना या सूरज का बिलकुल दिखाई ही न पड़ना, युद्ध के वेग से कच्छप की पीठ का चरमराना, वराह की दाढ़ का कड़क उठना, शेषनाग के फनों का डोलना या परस्पर उनका टकराना, अचला पृथ्वी का विचलित होना, नारद मुनि का हड़हड़ात की ध्वनि से अट्टहास करना, खून से सनी लाल जिह्वाओं वाली जोगनियों का तालियाँ दे देकर उत्पात मचाना, युद्ध के बाजों की ताल पर किलकारियाँ करती हुई कालिका का नृत्य करना, जमदूतों का कबड्डी खेलना, युद्ध के दृश्य को देखने के लिए सूर्य का रथ रोक कर रुक जाना, महेश द्वारा मुंडों की माला बना कर पहिनना, चंडी का जय-जय के स्वर में रुद्र का बखान करना, वीरों के साथ शिवजी का ताली दे-दे कर ताडव नृत्य करना—आदि।'

शासक वर्ग की जीवन आवश्यकता को जन-साधारण के लिए आदर्श रूप में पेश किया जाता है। युद्ध को गौरवान्वित किया जाता है। जीवन को तिरस्कृत और मृत्यु को अलंकृत करने का प्रयत्न किया जाता है। लड़ाई से सुख व आनन्द की अनुभूति सचरित हो, ऐसा प्रचार किया जाता है। जीने के लिए मरना जरूरी हो जाता है। मौत जीवन का श्रेय बन जाती है। इन मान्यताओं के अनुसार जो आदर्श वीर है, वही आदर्श पुरुष है।

तठै सूर लड़ंता घटै घरा तंदूरां, हरख सूरां निरख रंभ हूरा।

*

अच्छरां वरै करै अखियाती, सूरां रूप सिधायो,
छत्रा सीस द्रुळंता चिमनो, अमरापुर में आयो।

मौत को आकर्षित बनाने के लिए उसकी आकृति मे रंग भरा जाता है। योद्धाओ को निरखने के लिए अप्सराओं की आँखें विकल हो तडफती रहती हैं। खुशी में उन्मत्त हो, कभी-कभी वे नाचने लगती हैं। परस्पर होड लग जाती है कि कौन किसको वरण करे ? जब तक वह जीता है, स्वर्ग की परियाँ उसके लिए लालायित रहती हैं और मरने पर तो वह हमेशा के लिए जी उठता है। योद्धा का भाग्य एक ईर्ष्या की वस्तु है।

मृत्यु को इस प्रकार गौरव प्रदान किए बिना कौन उसको अपने पाँवो चल कर अपनाये ? मृत्यु को इस प्रकार दुलराये बिना कौन उसे गले लगाये ? जीवन, मौत के हाथो पराजित हो जाता है। सामन्ती कवि मृत्यु का बखान करता है। उसको विरदाता है। मरने वालो के लिए आकाश से फूल बरसाता है। देवताओ से बाजे बजवाता है।

अतिशयोक्ति कविता का अपना चारित्रिक गुण है। अनुभूतिजन्य सत्य को हृदयगम कराने के लिए यह एक सशक्त माध्यम है। लेकिन सत्य तथा यथार्थ की संघर्षमय अनुभूति पहिले है, अतिशयोक्ति उसके पीछे चलती है। उनका अनुकरण करती है। सहज अकृत्रिम परिणाम के रूप मे जब उसकी स्वाभाविक व्यजना होती है तो उससे सत्य का निखार होता है। अनुभूति भावगम्य बन जाती है। किन्तु जब अतिशयोक्ति, संघर्ष-युक्त अनुभूति की वास्तविकता से उत्पन्न न होकर केवल वैकल्पिक सूझ के रूप मे उपस्थित होती है तो उसमे सत्य का सपर्क छूट जाता है। उसकी सजीवता नष्ट हो जाती है। भाव-जगत मे उसकी कोई भी दखल नही रहती। हृदय मे कल्पना को जगाने के लिए वह अक्षम हो जाती है।

सग्रह की अधिकाश डिंगल कविताओ में अतिशयोक्तियो की भरमार है, पर अनुभूति और सत्य को वहन करने का उनमे पर्याप्त सामर्थ्य नही है। कवियो की निराली सूझ के द्वारा ही उन्हे अस्तित्व प्राप्त हुआ है। इस कारण हृदय की सवेदन-शक्ति का सस्पर्श कर सकने की पर्याप्त शक्ति उनमे अब नही रही। इसके अन्यथा भी चारण कवि की यह विवशता है कि चरित्रनायक के

प्रति उसकी स्तुति या प्रशंसा की कोई सीमा नहीं होती। उसका चित्रफलक संकीर्ण होकर नायक के इर्द गिर्द ही सिमट जाता है। उसकी दृष्टि में नायक का आकार सारी दुनिया से भी बड़ा होता है। परम्परागत वर्णन शैली, स्तुति व प्रशंसा के बने-बनाये साँचे में वह अपने प्रत्येक नायक का रूप सँवारता है। व्यक्ति निमित्त मात्र रह जाता है और साँचे का रूप ही जाता है महत्वपूर्ण। युद्ध के समय सारी वीरता, सारा शौर्य और तेज होता है अपने पक्ष में और दुश्मन के खेमे में होती है केवल कायरता, क्रूरता और ओछापन।

कविता में जब इस प्रकार की अतिशयोक्तिपूर्ण उक्तियों का प्रयोग होता है तो सत्य उनकी व्यंजित शैली में नहीं, बल्कि उनके आंतरिक वस्तु-तथ्य में समाहित रहता है। शैली को सच्चाई न मान कर उसमें विनिहित तथ्य को ग्रहण करना चाहिए। शैली के माध्यम से, जो बात कही जाती है वही सत्य है। लेकिन वह शैली सामूहिक चित्त की उद्भावना का परिणाम होनी चाहिए, वैयक्तिक सूझ की अटकल नहीं। अनुभूतिशून्य शैली अपने में सत्य को थाम नहीं पाती।

शब्द सामाजिक चेतना ही के बिंब प्रतीक होते हैं। लेकिन शब्दों का 'वस्तुपरक' के साथ 'आत्मपरक' रूप भी होता है। वस्तुपरक तो इसलिए कि वह वस्तु जगत का बोधक होता है। और आत्मपरक इसलिए कि वह भावना को व्यक्त करता है। चूंकि शब्द—वस्तु जगत और भाव-जगत दोनों का अपूर्व मिश्रण है, इसलिए किसी भी व्यक्ति का अनुभव न पूरा रूप से वस्तुपरक होता है और न पूरे रूप से आत्मपरक ही। दोनों के पारस्परिक संयोग से सत्य को प्राण प्रतिष्ठा मिलती है।

साहित्य एक ऐसी कला है जो शब्दों के माध्यम से संपन्न होती है। शब्दों का सामाजिक रूप होता है, जो अपनी सम सामयिक चेतना के विभिन्न रूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं। संगीत, चित्र, वास्तु, नृत्य आदि अन्य कलाओं की अपेक्षा भाषा के रूप में सर्वमान्य साधन प्रयुक्त होने के कारण साहित्य पारस्परिक आदान प्रदान के लिए अधिक उपयुक्त, सहज, सुलभ और सीधा माध्यम है। इसलिए भाषा के माध्यम से प्रथित होने वाली कला का अधिक प्रचार होता है। वह जन साधारण की पहुँच तक आसानी से पहुँच पाती है। इसके अन्यथा साहित्य का अपना एक निर्बल पहलू भी है। वह यह कि दूसरी कलाओं की अपेक्षा साहित्य में वस्तु-तथ्य अपरिवर्तित शब्दों के जरिये थिर

बना रहता है। उसमे यथार्थ बँध जाता है। इस कारण शब्दो मे भ्रामक स्थायित्व उत्पन्न हो जाता है। यथार्थ बदल जाने पर भी शब्दो का प्राचीन सामाजिक यथार्थ अक्षुण्ण बना रहता है। शब्दो का अपना आकार व अपनी ध्वनि अवश्य होती है, पर वह स्वय यथार्थ नही होता। 'वस्तु' का 'विषय'—शब्द मे बिंबित होता है। शब्द की अपनी कोई स्वतत्र सत्ता नही होती। वह *यथार्थ से अपना अस्तित्व ग्रहण करता है। लेकिन यथार्थ स्वयमेव उसमे* चित्रित नही होता। यथार्थ और मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्ध के बीच शब्द की उत्पत्ति होती है। वह तो केवल वास्तविकता के साथ मानवीय अनुभवो का सूचक होता है। लेकिन एक बार अस्तित्व मे आने पर वह स्वय यथार्थ का स्थान ग्रहण कर लेता है। भाषा का यह स्थिर चिरन्तन रूप उसकी कमी है। और ज्यो-ज्यो उसका अधिक विकास होता है, यह भ्रामक चिरन्तनता भी बढती रहती है। कागज और छापे का स्थायित्व, भाषा मे चित्रित यथार्थ को भ्रान्तिमूलक स्थायित्व प्रदान कर देता है। क्योकि वास्तविकता के बीत जाने पर भी शब्दो मे उनका सामयिक बिंब विद्यमान रहता है, जो तत्कालीन मानवीय सम्बन्धो के बीच उद्भूत हुआ था। बदली हुई नई परिस्थितियो के नये यथार्थ के फलस्वरूप उनका महत्व कम होता रहता है। और इसी जगह कला और कलाकार का दायित्व उपस्थित होता है। कलाकार—भाषा और यथार्थ के इस विरोध को सुलझाता है। उसे जीवन्त बनाने की चेष्टा करता है। अपने नये अनुभवो को अभिव्यक्ति के नये तरीके प्रदान करता है। शब्दो के प्राचीन सामाजिक अनुभवो के साथ वह नये अनुभव को जोडता रहता है। इस क्रम मे प्राचीन अनुभवो की थाती नये सघर्षो के कारण बदलती रहती है।

भाषा व शब्दो की परम्परागत विरासत के बावजूद भी जब मनुष्य अन्तर्जगत के आदान-प्रदान की इच्छा प्रकट करते है तो वे भाषा के बहाने अपने खुद के अनुभव व्यक्त करते हैं। इसलिए सामाजिक शब्दो को वे अपने नये अनुभवो के अनुरूप कुछ नई तरह से मिला-जुला कर प्रयोग मे लाते हैं। नई उपमाएँ तथा नई उक्तियो के सृजन का यही आधार होता है।

मनुष्य परम्परा से सामाजिक चेतना को अपने प्रचलित वातावरण व समाज द्वारा हासिल करता है। प्राचीन सामाजिक मान्यताएँ कला के विभिन्न रूपो के माध्यम से चली आती है। अपने समय की यथार्थ वास्तविकताओ ने ही उन मान्यताओ को जन्म दिया था। मनुष्य एक चेतनाशील प्राणी है

इसलिए हर नई पीढ़ी अपनी परम्पराओं की भौतिक शक्ति के सहारे नई परिस्थितियों का सामना करती है। बाह्य जगत में उसका अपना मौलिक अनुभव होता है, जो पुरानी पीढ़ी के अनुभवों से भिन्न रूप में प्रकट होता है। यथार्थ की जानकारी यथार्थ को बदलती है। फिर नये यथार्थ की नई जानकारी होती है। उस नई जानकारी से नये यथार्थ का निर्माण होता है। यही कला का द्वन्द्वात्मक चरित्र है। बीती हुई प्राचीन चेतना और परिवर्तित सामाजिक संबंधों का स्वाभाविक तनाव ही कला के उद्‌गम का मूल स्रोत है। व्यक्ति की नई सत्ता और पुराने विचारों के साथ द्वन्द्व होता है, जिसके फलस्वरूप नये विचारों को जन्म मिलता है।

सामाजिक मान्यताएँ, कला के विभिन्न रूप-तत्वों के माध्यम से स्वयं को प्रस्तुत करती हैं। कला के उन प्राचीन रूपों और नये व्यक्तिगत अनुभवों के बीच संघर्ष उपस्थित होता है। नया अनुभव कलाकार के लिए नई विषय-वस्तु का निर्माण करता है। तत्पश्चात् विषय नये रूप की खोज करता है। इस क्रम में प्राचीन सामाजिक मान्यताओं का महत्व धीरे-धीरे कम होता रहता है। स्वाभाविक विकास के दौरान में अतीत की प्राचीन चेतना कभी भी वापिस अपने उसी रूप में प्रकट नहीं होती। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्राचीन कला से आनन्द उठाया ही नहीं जा सकता या पुरानी कला या साहित्य के प्रति हमारी रुचि सर्वथा निःशेष हो जाती है। पुरानी कलाएँ हमें आज दिन भी पसंद आती हैं—इसलिए कि पुराने अनुभव के साथ ही हमारा नया अनुभव जुड़ता है। नया अनुभव एकदम से नया नहीं होता, बल्कि पुराने से कुछ अतिरिक्त होता है। हमारे नये अनुभवों में प्राचीन का अंश भी समाहित रहता है। लेकिन वह पर्याप्त नहीं होता। केवल उसीसे तुष्टि नहीं की जा सकती। इसलिए कुछ अतिरिक्त की अपेक्षा रहती है। उस अतिरिक्त की पूर्ति नये अनुभव से होती है। हमारा नया अनुभव भिन्न होता है—सर्वथा विरोधी नहीं। परिवर्तन का अर्थ विकास है—वैपरीत्य नहीं। इसके अन्यथा यथार्थ के बदल जाने पर भी कला को ग्रहण करने वाले हमारे ऐन्द्रिक स्रोत तो सर्वथा वैसे ही होते हैं।

लेकिन वर्ग-विभाजित समाज में कला की यह स्वाभाविक गति रुद्ध हो जाती है। उसका विकास अस्वाभाविक धाराओं में बहने लगता है। सामूहिक प्रतिभा का प्रतिनिधित्व न कर वह वैयक्तिक दायरों में बँट जाती है। उसका

द्वन्द्वात्मक चरित्र नष्ट हो जाता है। कला रूढियो के बहाने अतीत को बचाने का प्रयत्न करती है। उसका सक्रिय पहलू नष्ट हो जाता है।

सग्रह की अधिकाश डिंगल कविताओ का उद्‌गम-स्थान कवियो की निजी अनुभूति और प्राचीन चेतना का सघर्ष नही, बल्कि परम्परा का अनुकरण मात्र है। इनमे वैयक्तिक अनुभूति नही, रूढियो का निर्देश है। इसी कारण वे आज हमारी अनुभूतियो को जगाने मे अक्षम हैं। सामाजिक शब्दो को प्रयोग मे लाने के कारण शब्दो के वस्तुपरक रूप को बाँचा और समझा जा सकता है, पर कवियो के आत्मपरक रूप का सस्पर्श नही किया जा सकता। रूढिगत शैलियो द्वारा सचालित इनकी व्यजना मे भाषा और यथार्थ का सघर्ष नही, भाषा की चिरन्तनता ही लक्षित होती है। अधिकाश शब्द यथार्थ के बिंब प्रतीक न रह कर यथार्थ के पूरक बन गये है। प्राचीन काव्य-शैली और शब्दो मे विनिहित सामाजिक चेतना को उन्होने अपने अनुभव से समृद्ध नही किया, बल्कि उसी मे उन्होने अपनी अनुभूति को भी पा लिया। बदले हुए यथार्थ का उन्होंने पुरानी चेतना से ही सामना किया। परम्परा और रूढियो की जडता ने उनकी चेतना को भी निष्क्रिय बना दिया। उन्होने प्राचीन को भौतिक शक्ति के रूप मे ग्रहण न करके स्वय की सत्ता को ही अतीत मे भुला दिया। अतीत ही उनके वर्त्तमान का भविष्य बन गया।

समाज और वास्तविकता के विकास के साथ-साथ भाषा का विकास अवश्य होता है, लकिन इनकी अपेक्षा भाषा का विकास धीमा होता है। कला और सस्कृति सामाजिक उपज है, फिर भी मनुष्य इनके साथ हम-कदम मिलाते हुए नही चल सकता। सस्कृति आदमियो के पहिले बदलती है। सामाजिक परम्पराओ की विरासत को लकर जब नई पीढी बदले हुए यथार्थ का अपने नये अनुभवो से सामना करती है तो उस द्वन्द्व मे नई आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए नये साधनो को अस्तित्व मे आना ही पडता है, किन्तु उन परिवर्तित साधनो को समूचे समाज की जीवन्त शक्ति बनने मे समय लगता है। समाज का आधार या सत्ता के बदलने के साथ तत्काल ही सास्कृतिक प्रासाद या सामाजिक चेतना मे परिवर्तन नही हो जाता। इस गत्यात्मक क्रम मे समय अपनी दखल रखता है। एक हद तक समय को नियत्रित भी किया जा सकता है, परन्तु उसे सम्पूर्ण रूप से समाप्त नही किया जा सकता।

कला और साहित्य के साधनो मे समय, समाज और परिस्थितियो के

अनुसार आवश्यक परिवर्तन और विकास होते रहने पर भी उनके वांछित प्रयोग में सामूहिक अभ्यास व समय का दौर अपेक्षित है। भाषा के लिपिबद्ध रूप से निश्चय ही साहित्य की विषय-वस्तु और उसके रूप-तत्व में एक गुणात्मक परिवर्तन हुआ है, किन्तु लिपि की पूर्णता के साथ परिवर्तन एकदम से सम्पूर्ण नहीं हो गया। जिन सामाजिक परिस्थितियों ने लिपि को जन्म दिया, उन्हींके बीच वैयक्तिक भावना का भी उदय हुआ। लिपि ने वैयक्तिकता को प्रभावित किया है; उसकी वांछित उद्भावना के लिए उचित साधन प्रदान किया है। छापे की मशीन के आविष्कृत होने तक लिपि सामूहिक उपयोग का साधन नहीं बन सकी थी। सामूहिक माध्यम के लिए कविता तब भी उपयुक्त थी। भाषा की लिपिबद्धता से शब्द में दो गुण और समाहित हो गये—लिखना और पढना। इसके पहिले वह बोला और सुना ही जाता था। लिखे और पढे जाने के इस नये गुण से शब्द शक्ति में एक तात्विक परिवर्तन अवश्य हुआ है, कोई मूलभूत विभाजन नहीं। उच्चारित होने वाले शब्दों को लिखा जा सकता है, और लिखित शब्दों को उच्चारित किया जा सकता है। पढा और सुना जाने वाला शब्द एक होते हुए भी वह यथार्थ को अपने हिसाब से व्यक्त करता है, अन्यथा लिपिबद्धता के पूर्व साहित्य और उसके उत्तर साहित्य में कोई फर्क ही नहीं होता। लिपि ने साहित्य को प्रभावित किया है। छापे की मशीन ने साहित्य को अपने तरीके से प्रभावित किया है। साहित्य की रचना यान्त्रिक तो नहीं बन सकती पर वैज्ञानिक यन्त्रों ने अवश्य लेखक और उसकी लेखन-शैली में भरपूर असर पैदा किया है। लेखक या कवि सोच कर अपनी ही शक्ति से कलाकृति को जन्म देता है, पर यान्त्रिक साधन ज्ञात-अज्ञात रूप से अवश्य उसकी चिंतन और संवेदन-शक्ति को नई दिशा प्रदान करने में सहायक होते हैं। लेकिन साधनों का प्रकट होना मात्र ही परिवर्तन के लिए पर्याप्त नहीं है। अक्सर देखने में यही आया है कि कला या साहित्य के नये साधनों को शैली के पूर्व तरीकों से ही परोटा जाता है। इसके लिए साधन को समझने की आत्म-चेतना आवश्यक होती है; साधन की जानकारी और अभ्यास की आवश्यकता रहती है।

संग्रह की डिंगल कविताओं को समझने के लिए तत्कालीन समय की समझ अनिवार्य है, जिसको ठीक से समझे बिना इनकी शैली और इनके रूप-तत्व को समझना मुश्किल है। इन कविताओं की अपनी ऐतिहासिक मर्यादा है। अपने समय से इनका अविभाज्य सम्बन्ध है।

आज छापे की मशीन को जिस सहजता से व्यवहार मे लिया जाता है, तब इसकी कल्पना भी राजस्थान मे सभव नही थी। पढने के साधन उपलब्ध नही होने के कारण भाषा का साहित्यिक पहलू कविता के द्वारा बोलने और सुनने के सम्बन्धो से ही परिपूर्ण होता था। गद्य केवल आपसी व्यवहार तक ही सीमित था। लिपिबद्ध होने पर भी कविता का मुख्य गुण बोलना और सुनना ही था। कविता बनाने, लिखने और याद करने के लिए उसे लिपिबद्ध करने की जरूरत होती थी। लेकिन लिखावट का बाना पहिनने पर भी वह सुनने की वस्तु थी। वैयक्तिकता के हाथो पड कर सामूहिक विषय-वस्तु ने भले ही इन कवियो की चेतना से किनारा कर लिया हो, पर उन्हे अपने कविता पाठ के लिए समूह की आवश्यकता रहती थी। और उस समूह की अपनी मर्यादा तथा अपनी सीमा थी। कवि को उसीके चरित्र पर निर्भर रहना पडता था। वह अपने लिए नही उस समूह के श्रोताओ की खातिर काव्य-रचना करता था। वह स्वय उस सामती समूह की रुचि से प्रभावित होता था और अपनी रचना से उसे वापिस प्रभावित करता था। समूह की रुचि और कवि दोनो एक-दूसरे से सम्बन्धित थे।

सामूहिक आवश्यकता से उत्पन्न सामूहिक विषय वस्तु से अलगाव पैदा हाने पर कविता और सगीत की सगति टूट गई थी। पर फिर भी इन राज्याश्रित कवियो के लिए अपने श्रोताओ को मुग्ध करना जरूरी था। इसलिए छद, अनुप्रास, अलकार, वैण सगाई, मोरामेळ की सगति लाजिमी थी। ध्वनि-सूचक शब्दों का चुनाव अनिवार्य था। युद्ध-वर्णन के लिए युद्ध का वातावरण उपस्थित करने वाले शब्दो का प्रयोग आवश्यक था।

पीठ वडवडात वूरम छटा प्रळैरी,
मही खडखडात हैजम मचोळा।
मुनि हडहडात घडडात तोपा महत,
गयण गडडात पडभाट गाळा।

घडक्कै सुक्कमी माळा भडक्कै गिरद काळा,
साह गूरां फडक्कै फीपरा सांदीम।
पत्राजे खडक्कै पगी धडक्कै कायरां मीस,
यडक्कै उरेब दसा रडक्कै भू सीस।

जो श्रोता की रुचि व आवश्यकता थी, वह कवि का नियम और साध्य बन गई। साहित्य मनुष्य की सद्वृत्तियों को परिमार्जित करने की सजीवनी शक्ति है। वह मनुष्य को उन्नत करती है। उसे ऊँचा उठाती है। मनुष्य की उन्नति के साथ-साथ वह स्वयं भी उन्नत होती है। किन्तु जो कविता श्रोता की रजन वृत्ति के लिए स्वयं उस स्तर तक नीचे उतर आती है, तब उसको पाशविक-वृत्तियों को सहलाना और उन्हें थपथपाना आवश्यक हो जाता है। इससे कविता स्वयं नीचे उतरती है, मनुष्य को भी नीचे उतारती है। उसकी विषय-वस्तु रूप को निर्मित नहीं करती बल्कि उसका रूप-वैभव विषय को अपने साँचे में ढाल कर उसे विकृत बना देता है। राज्याश्रित कवि अपनी कविताओं के रूप विधान का स्वामी नहीं होता, उसका मातहत होता है। वह रूप की सृष्टि नहीं करता, बल्कि रूप उसको सचालित करता है। कविता का रूप-तत्व उसकी स्वतत्र वृत्ति से उत्प्रेरित नहीं होता, किन्तु वह रूप का हुक्म बजाता है।

इस ऐतिहासिक दृष्टिकोण के बाद भी इन कविताओं को पढ़ते समय यह बात विशेष रूप से ध्यान रखने की है कि प्रकाशन का सुन्दर आकार प्राप्त करने के बावजूद भी इनमें प्रयुक्त शब्दों की तात्विक विशेषता बोलना और सुनना है। आँख के कान लगा कर इन्हें पढ़ते हुए भी सुनने की चेष्टा करनी होगी। क्योंकि इनकी शक्ति अपने खुद के समय से मर्यादित है। ये कविताएँ आज हमारे लिए जीवन्त साहित्य का तो दावा नहीं करतीं पर ऐतिहासिक लिखत के रूप में इनका महत्व अवश्य है। जिस प्रकार समाज का इतिहास शासक-वर्ग की नामावलि के कार्य व्यापारों तक सीमित नहीं है, उसी प्रकार साहित्य के इतिहास को भी प्रसिद्धि-प्राप्त बड़े कवियों और उनकी कृतियों तक ही परिसीमित नहीं किया जा सकता। बड़ा कवि कोई सीधे आकाश मार्ग से नहीं टपकता। अपनी सामाजिक प्रतिभा के बीच उसका उद्भव होता है। अकिंचन से अकिंचन कवि और तुच्छ से तुच्छ कविता का साहित्य के इतिहास में योग रहता है। भाषा, शैली, रूप, विचार, कल्पना और विषय-वस्तु के विकास को जानने के लिए अधिक से अधिक साहित्यिक सामग्री आवश्यक है। उसके अभाव में साहित्य का वास्तविक इतिहास तैयार नहीं किया जा सकता। मनुष्य के विकास क्रम में इस तरह के ऐतिहासिक पड़ावों का महत्व तो इस दृष्टि से और भी बढ़ जाता है।

कुछेक कविताएँ जो परम्परा के रुढ विधान से बच कर निकली हैं, उनमे आज भी हमारी कल्पना को जगाने की क्षमता शेष है। सवेदन-शक्ति को उद्भासित करने की उनमे जीवन्त अनुभूति का कुछ न कुछ पुट अवश्य सनिहित है। उनमे रूढिबद्ध प्राचीन मान्यता और कवि के बीच उत्पन्न होने वाला सघर्ष लक्षित होता है। कवि के अपने अनुभवो से सप्रेरित होने के कारण शब्दो के आत्मपरक रूप का आभास भी प्रतीत होता है। इस कारण शब्दो मे निहित बात हृदय को छूती है। अपना असर छोडती है। इन कविताओ के अलावा इस सग्रह मे चार-पांच लोकगीत भी है—डिंगल के गीतो से जिनकी तुलना करने पर बहुत सारी मान्यताएँ तो स्वयमेव ही स्पष्ट हो जाती है। डिंगल का गीत एक छद विशेष का नाम है, जो युद्ध वर्णन के लिए अधिक उपयुक्त माना जाता है। गेय न होने पर भी इसके कविता पाठ की अपनी विशेष पद्धति है, जिसे सीखने के लिए भी काफी अभ्यास की जरूरत होती है। डिंगल के सभी छदो के पाठ का अपना अपना तरीका है। रूढि का नियत्रण काव्य की रचना तक ही समाप्त नही हो जाता—उसके पाठ पर भी उसका पूरा-पूरा अकुश रहता है। विभिन्न छदो के पाठो की स्वर-लिपि तो शायद सभव न हो किन्तु उनकी पद्धति विशेष के चद नमूनो का टेप-रेकार्ड कर लिया जाय तो साहित्य के इतिहास को समझने मे वैज्ञानिक दृष्टि को यथेष्ट सबल प्राप्त होगा। कविता से सगीत का नाता टूट जाने पर किन कृत्रिम तरीको से उसके अभाव को पूरने की चेष्टा की जाती रही है, उसके विकास क्रम को समझने मे कविता पाठ की ये विभिन्न पद्धतियाँ सहायक हो सकती हैं। [आज दिन तक तो कुछ चारण अवश्य मिल सकते है, जो कविता-पाठ की परम्परा को अपने गल मे बचाये हुए हैं। राजस्थान की शोध-सस्थाओ को इस ओर भी सतर्कता के साथ, जितना जल्दी हो सके, कदम उठाना चाहिये।]

इन लोकगीतों मे सगीत और काव्य का अब भी वैसा ही अविच्छिन्न सम्बन्ध बना हुआ है। इस विशेषता के कारण ही डिंगल गीतो के साथ इनका पृथक रूप प्रकट होता है। लोकगीतो की विषय-वस्तु से उनके रूप-तत्व को जुदा नही किया जा सकता। क्योंकि सामूहिक अनुभूति से उद्भूत विषय-वस्तु ने स्वय रूप की खोज की है। रूप के बने-बनाये रुढ सचे मे विषय को विकृत करने की कोशिश नहीं की गई। विषय की कोख से उत्पन्न होने के कारण रूप को अलग से निकाल कर पेश नही किया जा सकता। भरतपुर, भाउवा और

डूँगजी-जवारजी से सम्बन्धित डिंगल गीतों की संख्या तो काफी प्रचिर है, लेकिन इनसे सम्बन्धित एक एक दो-दो लोकगीत भी हैं, जो अपना परिचय अपने खुद के बूते पर अपने-आप देते हैं। इनसे पहिले न रचयिता का परिचय पाने की आवश्यकता है, न किन्ही शैलीगत रूढ़ियों की जानकारी ही जरूरी है। सामूहिक चित्त की सहज अभिव्यक्ति इनमें मिलती है। प्रत्येक शब्द अनुभूति की जीवन्त शक्ति से सम्प्रेरित होने के कारण उसी तीव्रता के साथ हृदय में आवेग उत्पन्न करता है। हर शब्द में भाषा के भ्रामक स्थायित्व को चुनौती देने का सामर्थ्य है। इनके जीवन्त शब्दों में जीवन्त परम्परा का अविरल प्रवाह है। जिन्दगी की विवशता ने इनकी भाषा को कुण्ठित नही किया, बल्कि मानव-हृदय की स्वतन्त्र भावना ने अपनी आवश्यकता को वाणी में दर्शाया है।

हिन्दुस्तान की बदलती हुई हर स्थिति के अनुरूप अंग्रेजों की बदलती हुई कुटिलता या शैतानियत का वर्णन करने के पश्चात् जब हम अपनी तरफ मुँह मोड़ते हैं तो हमारा अपना चरित्र भी कोई दूध का धोया नजर नही आता। शैतान को खुल कर शैतानियत करने का मौका हमने ही दिया था। अंग्रेजों की कुटिलता या उनका छल हमारी कायरता, स्वार्थपरायणता या आपसी कलह पर पर्दा नही डाल सकता। यदि उन्होंने यहाँ फूट डाल कर बडी क्रूरता के साथ शासन किया है तो निसदेह फूट की पिटारी वे कोई विलायत से लेकर नही आये थे। उन्हे यहाँ बेहद फूट दिखलाई दी और उन्होंने उस फूट व आपसी द्वेष का कसकर फायदा उठाया। माना कि देश की आजादी के पहिले विदेशी सत्ता को उखाड फेंकने के लिये उनके कारनामों को बढा-चढा कर दर्शाना और अपनी निर्बलताओं को छिपाना एक राष्ट्रीय आवश्यकता थी। सन् सैंतालीस के पहिले सावरकर द्वारा लिखी हुई—'सन् ५७ के भारतीय स्वातन्त्र्य-युद्ध' की पुस्तक को क्रांति की गीता मानकर उसको सम्मान देना और उसका अधिक से अधिक प्रचार करना वक्त व जरूरत की माँग थी, क्योंकि देश के कधे से किसी भी कीमत पर साम्राज्यवादियों के शोषण का जुआ उतार फेंकना था। उन परिस्थितियों में यही सत्य था। सत्य का कोई चरम और विच्छिन्न रूप नही होता। उसकी ऐतिहासिक मर्यादा होती है। लेकिन अब स्थिति बदल गई है। वैज्ञानिक की वस्तुनिष्ठ दृष्टि से हमें अतीत को समझना है।

दिल्ली की केन्द्रीय सल्तनत नष्ट होने पर, हिन्दुस्तान की अविकसित सामन्ती व्यवस्था के कृत्रिम संघटन को, छिन्न-विच्छिन्न होने में अधिक देर नही

कारण कि तत्कालीन विकट परिस्थितियों में आखिरी रूप से यह तय करना मुश्किल था कि ऊँट किस करवट बैठेगा ? कभी मुगलों और मरहठों में जो भी ताकत राजाओं को भारी लगती थी उसी के साथ हो जाते।

मुगलों की अधीनता स्वीकार करने के बाद राजस्थान के राजाओं की अपनी कोई ताकत शेष नहीं रही थी। केन्द्रीय सत्ता के सहारे बिना उनका जीना दूभर हो गया था। मुगलों के बाद उन्हें मरहठों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। मरहठों और अमीरखाँ ने तो उनके पारिवारिक मामलों में भी हस्तक्षेप बढ़ाना आरम्भ कर दिया था। वे जैसे-तैसे उनसे पीछा छुड़ाना चाहते थे। अंग्रेजों से इस बाबत आश्वासन मिलने पर उन्होंने निर्विलम्ब उनकी दासता मंजूर करली। आश्रित सेना की नीति ने तो राजाओं को अंग्रेजों की कठपुतली ही बना दिया। अंग्रेज तत्कालीन हिन्दुस्तान की हर नब्ज से वाकिफ थे। हर नई स्थिति का नये ही दाँव-पेचों से मुकाबला करते थे। और इसके विपरीत यहाँ का शासक वर्ग अपने में ही खोया था। नई परिस्थितियों का पुरानी मान्यताओं से ही सामना करना जानता था। शारीरिक ताकत से लड़ने-भिड़ने से अधिक उनकी राजनीति का कोई दायरा नहीं था। लड़ाई के सिवाय सीधा आत्म समर्पण करना जानते थे। दूसरा मार्ग ही उन्हें अधिक सरल दिखाई दिया। जातीय संघटन या किसी प्रेरणामूलक उद्देश्य के अभाव में आपसी झगड़े तो कभी खतम ही नहीं होते थे। राजा और बड़े-बड़े जागीरदारों के बीच हमेशा तलवारें तनी रहती थी। मारवाड़ के राजा मानसिंह की तो सारी उम्र ही जागीरदारों से युद्ध करने में बीत गई। जागीरदार ताकतवर थे। उन्होंने राजाओं के नाकों में दम कर रखा था। मरहठों के सिवाय इन घरेलू आफतों से बचने के लिये भी राजाओं ने अंग्रेजों की सहायता ली। अंग्रेज तो ऐसे मौकों की तलाश में ही रहते थे। जरूरत पड़ने पर वे स्वयं भी ऐसी स्थिति पैदा करवा देते थे। चंद स्वार्थ के लिये देश का बड़ा से बड़ा नुकसान कर देने की हिन्दुस्तान में स्थिति थी और अंग्रेजों ने उसका लाभ उठाया।

सन् ५७ के पहिले ऐसे एक भी युद्ध की मिसाल नहीं मिलती जिससे मालूम हो कि अंग्रेजों को शत्रु-रूप में पहिचान कर किसी भारतीय ताकत ने उनसे युद्ध किया हो या उन्हें आगे बढ़कर ललकारा हो। जब अंग्रेजों ने ही भारतीय ताकतों से, किसी भी शर्मनाक शर्तों पर समझौता नहीं किया और कोई भी बहाना लेकर उन पर चढ़ाई करदी तो उन्हें मजबूर होकर लड़ने को

तैयार होना पड़ा। जिन्होने अग्रेजो का साथ दिया, वे भी अपने व्यक्तिगत स्वार्थों मे बँधे थे और जिन्होने विरोध किया, उस विरोध मे भी सबसे पहिले उनका अपना ही स्वार्थ निहित था। सन् ५७ का विद्रोह भी कोई राष्ट्रीय क्राति नही थी। इतिहास मे प्रतिशोध नाम की एक चीज होती है—यह वही प्रतिशोध-भावना की प्रक्रिया थी। अग्रेजी अत्याचारो से ग्रस्त जुलाहे, दस्तकार व किसानो का वह विद्रोह नही था। बगाल, जो अग्रेजो की कुटिलता का सबसे अधिक शिकार था, वह गदर मे दूर रहा। अग्रेजो के साथ उसने अपना तुक बिठा लिया था। दक्खिन और पच्छिमी हिन्दुस्तान ने भी अग्रजो से अपना जोड साध लिया था। उत्तरी भारत मे ही विद्रोह की आग भडकी थी। मरते हुए सामतवाद की यह आखिरी लौ थी। वह एक पराजित-आदर्श का सगठन था जो अपनी ही कमजोरियो के कारण बिखर गया। नये सामन्ती तत्व, जो अग्रेजो के कारण सुरक्षित थे, उन्होने विद्रोहियो को दबाने मे अग्रजो का खूब साथ निभाया। गुरखे और सिक्खो ने तो गदर का दमन करने मे कमाल ही बहादुरी दिखाई। राजस्थान का जागीरदार वर्ग, जो अग्रजो और राजाओ के गठबधन के कारण पीडित था, उसने विद्रोहियो के खिलाफ सेनाएँ भेजी—

राजाजी रै भेळी तो फिरगी लडियो ओ काळी टोपी रो।
राजाजी रा घोडलिया काळा रै लारै दोडै आ .।

राजाओ ने अपने स्वार्थ की खातिर अग्रजो को अपनी सेवाएँ अर्पित की। जागीरदारो ने अपने स्वार्थ की खातिर विद्रोह मे हिस्सा लिया। परन्तु परोक्ष रूप से अग्रेजी साम्राज्यवाद को उखाड फेंकने मे जिस किसी ने जब कभी भी उस पर प्रहार किया, उसका स्वार्थ भी परिणाम की अच्छाई के कारण सम्मान के योग्य है। देश का विरोध करने वालो से, विदेशी शासन का विरोध करने वाले तो हर हालत मे श्रेष्ठ थे, क्योकि उनके विरोधो से साम्राज्यवादी शोषण को किसी न किसी रूप मे क्षति अवश्य पहुँची है। और उनके विरोध-प्रदर्शन की भावना से आगे के राष्ट्रीय आन्दोलनो मे बल सचित होता रहा है। इसलिए राष्ट्र के स्वातत्र्य सग्राम म उनकी अपनी जगह है।

सन् ५७ के बाद अग्रजो को अपनी नीति बदलनी पडी। जिन ताकतो के जरिये उन्होने गदर का दमन किया वही आगे के लिय उनकी नीति का मुख्य आधार बन गया। प्रतिगामी तत्वो का सरक्षण करके ही वे हिन्दुस्तान मे राज्य कर सकते थे। प्रतिक्रियावादी तत्वो ने गदर की असफलता के पश्चात् अच्छी

तरह समझ लिया कि अंग्रेजो की छत्रछाया के सिवाय उनको कही ठौर-ठिकाना नही है। सारे विरोध को भुलाकर वे अंग्रेजी ताकत के साथ एक जुट होकर मिल गये। अंग्रेजो की ही गोदी मे उन्हे मीठे फल पाने की आशा दिखाई दी। और अंग्रेजो ने भी यह भली भाँति समझ लिया कि प्रगति-विरोधी ताकतो को अपने साथ मिला कर ही वे हिन्दुस्तान का शोषण कर सकते है। शासक-वर्ग की निर्बलता के कारण ही अंग्रेज हिन्दुस्तान को जीत सके थे और बाद मे उन्हें प्रश्रय देकर ही वे लम्बे अर्से तक शासन करने मे सफल हो सके।

हर ऐतिहासिक सामग्री के साथ भारत मे अंग्रेजी साम्राज्य की कुटिल नीतियो का पहलू उघटेगा। कई मान्यताएँ बनेंगी। कई मान्यताएँ बिगडेंगी। उनकी दृष्टि मे तब के जो डाकू, लुटेरे, देशद्रोही या बदमाश थे, उनके सिर पर दीर्घकालीन घृणित प्रचार के बाद शायद देश भक्ति का सेहरा बाँधना पडे या तब के देश-भक्तो या सम्मानित नागरिको को दीर्घकालीन प्रसिद्धि के बाद देशद्रोहियो के दाग से कलंकित करना पडे। कुछ भी निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। सामग्री और समय का ही आखिरी और सही फैसला होगा। प्रस्तुत कविताओ के प्रकाशन की यही सार्थकता है कि उनके द्वारा भारत की आजादी का इतिहास लिखने के लिये चाहे कितनी ही क्यो न हो, अपने हिस्से की आंशिक वृद्धि हुई है।

साम्राज्यवादी चालो को ठीक से समझने के लिये हमे अपनी कमजोरियो को भी भली भाँति समझना होगा, तभी सच्चाई को पूर्णता मिलेगी। हम अपनी गलतियो से सबक ले सकेंगे। निश्चित है कि साम्राज्यवादी ताकतें आज अपनी मौत मर रही है, लेकिन मरते-मरते भी उनकी कुटिलता अपनी मौत जीना चाहती है। परिस्थितियो के साथ अपना वश बदल रही है। एक समय था जब व फूट डाल कर राज्य करते थे, आज वे फूट डाल कर जिन्दा रहना चाहते हैं। यह परिवर्तन उनका अपना गुण नही है, जमाने की माँग है।

अगस्त, १९५६

---

† आज का भारत—रजनी पामदत्त

§ हिन्दुस्तान की खोज—जवाहरलाल नेहरू

* हिन्दुस्तान मे अंग्रेजी शासन का उद्भव और विकास—ई थॉम्पसन एण्ड जी टी. गैरट

प्रस्तुत संग्रह के लेखों का पूर्व प्रकाशन

'रूपम' में प्रकाशित निबन्ध—

शब्द और यथार्थ
विषय-वस्तु और भाषा
† शिल्प की भाषा
सौन्दर्य-बोध की समस्या[1]

'परम्परा' में प्रकाशित निबन्ध—

वायु बरसात और बादल
सूरज चाँद और तारे
खेत वृक्ष और हरियाली
पशु और पक्षी
† श्रम का संगीत[2]
† अंध विश्वासों के गीत[3]
ऊजली की विरह-वेदना का मर्म
कविता की कहानी[4]
आयो इंगरेज मुलक रै ऊपर

---

† दूसरे नामों से प्रकाशित

१ सौन्दर्य-बोध की गत्यात्मक मर्यादा
२ श्रम और गीत
३ धार्मिक मान्यताएँ और शकुन
४ लोक-गीत और कविता। [ये निबन्ध पत्रिकाओं में इन शीर्षकों से प्रकाशित हुए थे]

विषय-संकेत

शुद्धि-पत्र

गलत	सही	पृष्ठ	पंक्ति
खाजे	खोजे	१६	८
बनाती	बनाता	२४	२३
सर्जन	सृजन	२४	२६
सवेदानुभूति	सवेदनानुभूति	२८	१६
ग्रनुष्य	मनुष्य	२८	२१
निसर्ग	निसर्ग-सौंदर्य	३३	१
ऋतुए	ऋचाएँ	४०	१६
विश्वाश	विश्वास	४१	२१
दुलारती	दुलराती	४२	२
ढाल देता	ढाल लेता	४३	१६
निखारता	निरखता	४३	१७
ग्रपनी चेतना	मानवीय चेतना	४३	१७
ग्राती है	ग्राती हैं	४४	२४
मत जाना	मत ग्राना	४६	६
मानते हैं	मनाते हैं	४६	१६
फारिक	फारिग	४८	३
करना	करना है	५०	४
वह[1]	देता है ।[1]	५१	२
वह[2]	नाशक है ।[2]	५१	२
राजस्थानी[3]	करने वाला है ।[3]	५१	३
घनिष्ठ	घनिष्ट	५२	१
हरियाली	प्रकाश	५३	२०
ग्राधारास्थल	ग्राधारस्थल	५३	२५
राजस्थानी[1]	माना गया है ।[1]	५४	२
पास ही है। उसकी मुट्ठी मे	पास ही हैं उसकी मुट्ठी मे ।	५४	२२
तुम्ह	तुम्हें	५६	७

गलत	सही	पृष्ठ	पंक्ति
किरित्यॉ	किरत्यो	५६	११
कई कई	कई	५६	११
पहिले-पहिले	पहिले-पहल	६०	१८
अमळी	अमली	६२	७
पाताळ	पताळ	६२	१२
गहरी	गहरो	६२	२५
इसी	इस	६३	१५
सपूती	सपूती	६३	२६
कामणी	कामडी	६५	२
सम्बन्धी	सम्बन्धित	६६	१२
हरियाळी	हरियाळा	६६	१५
हरियाळी	हरियाळो	६६	१६
करता	रखता	६७	५
१६५३	१६५६	६७	२२
दर्साया	दर्शाया	७०	८
मनाऊँगी	मानूंगी	७२	११
घनिष्ठ	घनिष्ट	७३	२०
धोखाधड़ी	धाखाधड़ी	७४	५
यही	इसी	७५	१६
सुखपूर्वक	सहर्ष	६४	१२
हाथो मे	हाथो,	६४	२४
इतना	इतना	६४	२६
करती	करते	६६	२०
करती	करते	६६	२१
भयकर	भयकर	१०८	१२
जव	जब	१०८	२७
गीत	गति	१०८	२८
सगीत सरावोर	सगीत मे सरावोर	१०६	२
महनत	मेहनत	१११	१८

गलत	सही	पृष्ठ	पंक्ति
औजारो उत्पादन साधन]	औजारो [उत्पादन साधन]	११४	६
अधिकृत	अधीनस्थ	११७	२६
अधिकृत	अधीनस्थ	११८	४
वाले दरबारी,	वाले, दरबारी	१२०	१
वेप	वेश	१२१	४
विश्लपण	विश्लेषण	१२७	७
घनिष्ठ	घनिष्ट	१३२	१७
घनिष्टता	घनिष्टता	१३३	१७
उच्च सस्कृति	सस्कृति	१३६	१२, १३
नृशशता	नृशसता	१३८	४
क	को	१३६	१०
वैगरह	वगैरह	१४०	२६
नवावा	नवाबो	१४१	२
हद तक	इस हद तक	१४१	२४
पर भी मार	पर मार	१४१	२६
हन्दुस्तान	हिन्दुस्तान	१४५	३
और तीनो	और सरकार तीनों	१५४	११
वोधगम्य यथार्थ रूप	वोधगम्य रूप	१६३	२८
वैसे	वैसी	१६४	१०